पकी फसल के बीच

(प्रेमशंकर रघुवंशी की कविताएं)

प्रकाशक : बोधि प्रकाशन
146, सावरदा कॉम्प्लैक्स, खज़ाने वालों का
रास्ता,जयपुर- 302 001 (राजस्थान)
दूरभाष : 0141-327955, 591087
प्रथम संस्करण : मार्च, 2000

कीमत : 100 00 रुपये

लेज़र टाइप सैट : तरु कम्प्यूटर्स, जयपुर

आवरण : मेधातिथि

मुद्रण : प्रिण्ट-ओ-लैण्ड, जयपुर

आवरण मुद्रण : कमला आर्ट प्रिन्टर्स, जयपुर

Paki Phasal ke Beech (Poetry) by Premshankar Raghuvanshi
Rs.100 00

ISBN 81-87697-09-1

अनुक्रमणिका

पृथ्वी का कवि प्रेमशंकर रघुवंशी

त्रिलोचन को शमशेर ने 'धरती' का कवि कहकर, सही अर्थों में उनके समकालीन उन आकाशविहारी कवियों से उनको अलग बतलाया था, जो धरती और उसके निकट मनुष्य की सुंदरता-कुरूपता को जानने-पहचानने के बजाय देवताओं का पालागन ज्यादा करते थे, जो पुरानी मिथकथाओं और देवचरित्रों की पारम्परिक कहानियों में वर्तमान के गूढ़ार्थों को नयी भाषा और रूप-पद्धतियों में खोजकर अपने आधुनिक एवं नये होने का विभ्रम फैलाते थे। जबकि नागार्जुन जैसे कवि अपनी मिथिला की धरती-परती में कविता की धूनी रमाते थे, केदारनाथ अग्रवाल अपने बुंदेलखण्ड की आबोहवा के बीच मरते-खपते और खड़े होते मनुष्य की कद-काठी का सौन्दर्य आँकोरते थे और त्रिलोचन अपने अवध के 'अमोला' से लगाकर नगई महरा की ऊँचाई को अपने पाठक को दिखाते थे। ये सभी कवि एक ही धरती के अपने-अपने भूदृश्यों और जीवित इतिहासों की बुनियाद पर खड़े होकर कविता की उस धारा को आगे ले जा रहे थे, जो दरबारों और पूँजी के घरानों से निकलकर नहीं आई थी। वह आई थी होरी-धनिया की जरूरी सचाइयों से, महगू-झींगुरों के छान-झोपड़ो से और कुम्री भाटों, चतुरी चमारों-घीसू-माधवों के कष्टों-पीड़ाओं और जीवन के लिए सतत चलने वाले द्वन्द्वों-तनावों से। यह कविता की बनी-बनाई धरती नहीं थी। न ही पहले से इसका कोई काव्य सिद्धान्त था। इतिहास में रहते हुए भी यह धारा, इतिहास-बहिष्कृत थी। मुक्तिबोध, यद्यपि इस परम्परा मे सीधे-सीधे नहीं थे, वे मध्यवर्ग की पैदाइश थे, इसलिए उनका जीवन-पक्ष इनसे भिन्न था, लेकिन उनकी बेचैनी और तनाव का सारा सबब इसी लोक-धरा से अपनी पटरी बिठाने का था। ऊँची सीढ़ी पर बैठने वाले आदमी का नीचे की सीढ़ियो पर बैठने वालों से सम्बन्ध जोड़ना बहुत मुश्किल काम है। सामाजिक-प्रतिष्ठा के हमारे प्रतिमान कुछ इस तरह के हैं कि यहाँ जो हमसे प्यार करता है, हम उससे घृणा करते हैं और जो हमारा तिरस्कार एव उपेक्षा करता है, हम उसके लिए पलक पाँवडे बिछाए रहते हैं। यह दुविधा है बिचौलियों की। कहा भी है – 'दुचित कतहुँ परितोष न लहहीं।' मुक्तिबोध इसी दुचित्तता के द्वन्द्व की अति-महत्वपूर्ण कविता रचते हैं।

इसी काव्य परम्परा मे प्रेमशकर रघुवंशी 'पृथ्वी के कवि' के रूप में सामने आते
थ्वी उनका बहुत प्रिय शब्द है। उन्होंने अपने एक कविता-संग्रह को 'तुम पूरी पृथ्वी
हैं।'पृथता' नाम दिया है। इस सग्रह मे भी एक कविता है 'पृथ्वी के जन्म पर।' दरअसल,
हो कवि औद्योगिक और तथाकथित उत्तर-औद्योगिक नागरिक की समस्या यह है कि
आज धेर रहते हुए भी पृथ्वी से उसके पैर उखड़ रहे हैं। उसकी महाजननी-पृथ्वी की
पृथ्वी ाँ, उसके क्रियाशील इतिहास मे धुँधली पड़ रही हैं। वह पृथ्वी-पुत्र होते हुए उस
स्मृतिको भूल रहा है और आज भी जिन लोगों ने अपनी कठोर जिन्दगी के बल पर इस
रिश्ते को बचा रखा है और जो पृथ्वी की संस्कृति के नायक हैं, वे सभ्यता-केन्द्रों से सर्वथा
रिश्ते दत एवं उपेक्षित हैं। इस समस्या पर गहराई से चिन्तन कर कवि प्रेमशंकर रघुवशी
तिरस्कृकी गध और रूप-रस को बार-बार कविता में लाते हैं। हमारी जिन्दगी से प्यार के
पृथ्वी म चुम्बन गायब हो रहे हैं, सावन के झूलों और गीतों की मस्ती के दिन अब इतिहास
निष्कात हैं। कवि इनको इतिहास नहीं बनने देना चाहता है। वह पृथ्वी के जन्म के बहाने
की बकी याद ताजा करता है-

से इन ''पृथ्वी का जन्म हुआ तो/पहले पहल चुम्बन को दौड़ आया सूरज/हवा ने डाल
ले डाल डाल/और इतने गीत रचे निर्झरों ने/कि वे सदा सदा को कल कल छल छल
दिये हैं।'' (-पृथ्वी के जन्म पर)

हो ग आज ऊपर के लोग शब्दो के अर्थों को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं, भावनाओ को कैदखाने
ना जा रहा है, कल्पनाशीलता को फिजूल बतलाया जा रहा है, सुंदरता शरीर तक
में ड रह गई है, विश्व-मानवता मे मानव-अधिकार विज्ञापन की वस्तु है इसलिए कवि
सीमि शिकल कविता न लिखकर जिन्दगी में कविता को बचाने की भी है। जब कविता की
की गी ही न बचेगी तो केवल तनाव, विसंगति और विडम्बनाओ के जीवन से तो कविता
जिन्द अधूरी और थोड़ी लिखी जा सकेगी। इस अधूरी और थोड़ी कविता को लिखते हुए
बहुत रघुवंशी, अपनी कविता के लिए उन अछूते, दूरस्थ और असुविधाजनक स्थलों मे
कवि है, जहाँ अभी लोगो की जिन्दगी में, कविता के कुछ पहलू बचे हुए हैं। जिनको
घूमर ति आज की विकसित सभ्यता की अधूरी कविता को पूरा करती है। कविता के इन
सस्ट प्रदेशो की सचाई और सास्कृतिक अस्मिता को उद्घाटित करने से जो कविता बनती
अछू ही रघुवंशी को कवि के रूप मे प्रतिष्ठापित करती है। यही उसके कवि की अपनी
है, वान है। वे विचार की बावड़ियो के अँधेरे में गहरे न उतरकर धरती की सतह पर
पहच्कल बहते हुए झरने का आचमन करने वाले कवि ज्यादा हैं। यह उनकी कविता की
कलत है तो हदबदी भी। यद्यपि विचार की उपस्थिति उनकी भाव-सरिता के तट पर बनी
ताको है तथापि उनकी कविता लिखने के क्षण वात्सल्य से भरे होते हैं।

रहतं वस्तु-स्थितियो के मानवीकरण से कविता को रचना, कवियो की पुरानी आदत
है। आज के कवि इस कला का भरपूर उपयोग करते देखे जाते हैं। रघुवशी जी के यहाँ
रही के आपस मे एक दूसरे से मिलती हुई हँसी-मजाक करती हैं, बलखाती हैं, छेडछाड़
सड

करती हैं और राजमार्गों से जुड़ जाती हैं। रेल की पटरियाँ भी आपस में बोलती-बतराती हुई जंक्शनों से जुड़ जाती हैं। इसी तरह वायुयानों के आकाश-पथ भी। लेकिन, मनुष्य-जीवन में वृहद स्तर पर होने वाले जुड़ाव का अभाव उनको खटकता है। वर्तमान में जुड़ावों, सम्बन्धों और रिश्तों में आती हुई गहरी कमी को अनुभव कर यह कवि, कभी अपनी पुरानी पारिवारिक सम्बन्ध-स्मृतियों में अपने पाठक को ले जाता है तो कभी प्रत्यक्षत: दिखाई देने वाली प्रकृति की सम्बन्ध-रचना को दिखलाकर उसे उसके माधुर्य में मग्न करता है। उसके अपने जीवनानुभवों में दिक्कतों-कठिनाइयों, द्वन्द्वों-संघर्षों, अभावों-अन्यायों और शोषण-उत्पीडन-क्रूरता-नृशंसताओं और छल-छद्म-पाखंड और अंधविश्वासों-रूढ़ियों-अमानवीयताओं के अनेक पक्ष हैं लेकिन प्रकृति तथा अभावग्रस्त लोगों के सहज मानवीय साहचर्य और सतत संघर्ष-साधना के उदाहरणों ने कवि को हताशा-निराशा और किसी तरह की कुंठा से दूर रखा है। यह सब बनावटी ढंग से नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो कविता में यह सहज उमंग, स्फूर्ति, दीप्ति, माधुर्य और हुलास आता ही नहीं, जैसाकि रघुवंशी की कविता में आता है। कवि प्रत्यक्ष देखता है कि धूप के खिलते ही धरती-आकाश खिलने लगते हैं, मेघ के घुमड़ने पर मेघनाद होने लगता है, हवा के अवतरण पर कण-कण गतिवान हो जाता है। जब यही ताकत मनुष्य में आ जायेगी तो एक नए इंसान और उसकी नयी संस्कृति का जनम होगा। इसलिए इस धूप, पानी और हवा की शक्ति और सौंदर्य के कृत्रिमता-रहित केन्द्र जहाँ कहीं उसके आसपास हैं, वहीं उसका कवि पहुँच जाता है। कविता के अपने हृदयस्थल और कोने की पहचान रघुवंशी जी को है। उसे उस तरह के विडम्बनापरक वाक्छल और रूपवक्रता से कविता का भ्रम पैदा करने की आवश्यकता नहीं होती, जैसी कि व्यापक जीवनानुभवों के अभाव में, अनुभवों की एक बहुत सीमित, संकीर्ण और यांत्रिक दुनिया में गुजर-बसर करने वाले शहरी मध्यवर्ग के कवियों में देखने को मिलती है।

प्रेमशंकर रघुवंशी खुद मध्यवर्ग से हैं लेकिन उनकी आवाजाही दुतरफा है। वह नीचे से ऊपर की ओर गए हैं और अपने जीवन-व्यवहार में निचली सीढ़ी से वह कभी अनासक्त-विरक्त नहीं हुए। उनकी विचार-दृष्टि और समय को समझने की उनकी विश्लेषण-क्षमता ने उनको समाज की निचली एवं व्यापक जीवन-सतह से जोड़े रखा है। मध्यवर्ग की स्थितियों में जीते हुए भी निचले वर्ग की स्मृतियाँ उनके भीतर उमड़ती-घुमड़ती रही हैं। इसलिए उनके रचना-संसार में तनावों की जटिलता के आग्रह यदि ज्यादा नहीं हैं तो इसका कारण उनके आसपास के जीवन के संघर्षों-द्वन्द्वों और क्रूर-कठिनाइयों के पंक में खिलने वाला वह पंकज भी है, जो बावजूद अभावों-कष्टों और अन्याय-उत्पीड़नों के मुरझाता नहीं। कवि ने इस प्रसंग में प्रकृति के साहचर्य को बहुत महत्वपूर्ण माना है। मनुष्य से प्रकृति का यदि बहुत समीप का सच्चा साहचर्य है, तो वह कितने ही विकट तनावों-दबावों-अवरोधों के बावजूद अपने आत्मोल्लास को मरने नहीं देता। वह पावस की जटिल अनुभूति को शब्दों की मनुजता में इस तरह व्यक्त करता है-

"हवा ने पेड़ों के कान मे कुछ सुरसुराया/और बजने लगे कछार/और छोर थिरकने लगी नदी/और फिसल चले लहरो के रूमाल हिलाते प्रपात/कोसों दूर से प्रिया-पुकार सुन/ पल्लर पल्लर झूम उठा सागर/तभी धूप-दीप से महकते बादल आए/और लाद चले भाप भाप उसे/थाम लीं मशाले/बिजलियो ने/और घरघराती चल पड़ी गजयात्रा आकाश से/आजकल इनकी ही पहुनाई मे लगी धरती/पानी पानी है गर्भगृह तक।" (- गर्भ गृह तक)

कवि रघुवंशी जीवन-सौंदर्य को सिरजने में प्रकृति के क्रियाकलापो को बीचोबीच इसलिए रखते हैं कि जब से सृष्टि है, तब से उसकी गति और क्रियाशीलता कभी नहीं थमी, उसका रग कभी फीका नहीं पड़ा, उसके रूप में विकृति नहीं आई, उसकी गंध की प्रफुल्लता, उदासी मे नहीं बदली, उसके स्वरों में कटुता के बीज नहीं रूपे। वह हर स्थिति में जीवित रही, अपने वचन पर दृढ़ रही और अपने संविधान पर अटल। अपनी व्यवस्था मे वह जितनी वस्तुनिष्ठ है, उतना कौन होगा। उस प्रकृति से और उसके रिश्ते को निभाने वाले मनुष्यो से कवि ने हँसना और दुनिया से अपने रिश्ते को पहचानना सीख लिया है। अब वह स्वयं इस स्थिति में आ गया है कि अपने पास के सजधज वाले किसी उदास बाबू से कह सकता है कि-

"अब ये हाल है बाबू/कि मेरी मुट्ठियों में हर वक्त/एक न एक शानदार सपना होता है/जिसका जादू मुझमें/चलने ही चलने का/विश्वास बोता है।"

अन्त मे कवि अपना निष्कर्ष भी देता है-

"बेमतलब दौडने वाला/अश्वमेघ का घोड़ा भी/फर्रा करके बैठ जाता है कहीं भी।"

(-'अब ये हाल है')

कवि रघुवंशी का प्रकृति मे मन रमने का कारण उसकी सुंदरता और रूपरंग ही नहीं है। जैसाकि मैंने पहले कहा कि उसका अपना एक चरित्र भी है, जिसमे मनुष्यता कूट-कूट कर भरी है। प्रकृति किसी से छल नहीं करती, वह मनुष्य की तरह धोखेबाज नहीं है। फूल वहाँ सुगध की चर्चा ही करते हैं, काँटों के आगे हाथ जोड़कर खडे नहीं होते। बहेलियो की आशंका में पक्षी चहकना नहीं छोड़ते। जबकि आदमी की दुनिया मे ऐसा अभी तक नहीं हो पाया है। बीसवीं सदी के ढलान पर आदमी की बात को, आज की महत्वपूर्ण पोलिश कवयित्री विस्लावा शिम्बोर्स्का ने इन शब्दो मे कहा है-

"आखिरकार हमारी सदी भी बीत चली है/इसे दूसरी सदियों से बेहतर होना था/ लेकिन अब तो/यह भी अपने गिने चुने साल पूरे कर रही है/इसकी कमर झुक गई है/सांस फूल रही है।"

यह सही है कि सांस्कृतिक दृष्टि से हम आज एक बहुत मुश्किल व विरक्त समय मे जिन्दा बने रहने को विवश हैं। यह मनुष्य-श्रम के आदर का समय न होकर पूँजी और उसके बाजारों की गर्मी का समय है। यह अहकार, दम्भ और नृशंसता के इतराने का समय है। यह मनुष्यता पर हँसने का समय है। यह धोखेबाजी, छल-कपट की जीत पर उत्सव

रचने का समय है। यह विज्ञापन का समय है और मनुष्य के पूँजी में रूपान्तरित होते जाने का समय है, लेकिन कविता और कवियों के लिए समय की यही सीमा नहीं है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि इस समय की कोख में श्रम और सम्बन्ध-राग की संस्कृति भी पल रही है, भले ही राजधानियों पर उसकी प्रभुता न हो। राजमार्गों और राजभवनों के कुचक्रों, षड्यंत्रों और झूठ-फरेबों में उसकी गिनती न हो, वह इतिहास से बहिष्कृत-उपेक्षित दिखाई देती हो, लेकिन जिनकी दृष्टि अंध नहीं हुई है और जिनके श्रवण अब भी श्रुति-परम्परा में दीक्षित हैं, वे समय के इस दूसरे मंच को भी जानते हैं। उनके लिए यह कल्पित रूप-विधान नहीं है और न ही मात्र स्मृत रूप विधान। यह प्रत्यक्ष रूप विधान है, जिसमें स्मृतियों का बल अन्तर्ग्रंथित है। इस विधान में कवि रघुवंशी की 'तवा' जैसी कविताएँ औरत की तहज़ीब-तमीज़ को उसकी मेहनत से जोड़कर दिखलाती हैं। उसका 'गाँव' उसे शहर में जीने की ताकत देता है। यद्यपि वह यह भी जानता है कि समय पर आज जिनका प्रभुत्व है उनकी संसद, उस वास्तविक संस्कृति से बेखबर सहानुभूति का नाटक करती हुई आयातित चर्चाओं में मशगूल, अपनी पैंतरेबाज़ी दिखा रही है। इसलिए कविता में इसकी चर्चा और उपस्थिति तो जरूरी है, लेकिन यह स्वयं कविता नहीं है। कविता के लिए तो कभी वह 'सतपुड़ा' की पसलियों से नाता जोड़ता है, तो कभी चचा ताँगे वाले की यादों के चोए में अपनी स्मृति के चेनुओं को स्नान कराता है, कभी उसे खिड़की से बारिश का नज़ारा देखते हुए बेटी की याद सताने लगती है तो कभी अपनी रोजमर्रा की धोने-माँजने और लीपने-पोतने जैसी परिष्कार-क्रियाओं में संलग्न प्रौढ़ाओं को देखकर माँ की याद आती है। इन क्रियाओं की स्मृति में एक ऐसा भाव-प्रवाह उमड़ता है कि मनुष्यता, स्वयं प्राकृतिक क्रियाओं में तब्दील हो जाती है। प्रकृति से मनुष्य और मनुष्य से प्रकृति का यह द्वन्द्वात्मक अन्तःसम्बन्ध प्रेमशंकर रघुवंशी की कविता की टेक है-

"कि तभी -/घर से आँगन तक/बह पड़ती नदी/जिसमें नहाकर मिट जाती/जन्म जन्मांतर की थकान/तन मन की।" (- मां की याद)

उनकी यह टेक अदलती-बदलती रहती है। जब वह सतपुड़ा के वक्षस्थल से प्रवाहित नालों-नदियों के कर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र को निहारता है तो उसके भीतर मानवीय क्रियाओं का एक सहज उल्लास उमड़ता हुआ दिखाई देता है। इसी तरह जब वह मानवीय रिश्तों के सहज रागात्मक माधुर्य की अनुभूति करता है तो वहाँ प्राकृतिक क्रियाओं की उत्फुल्लता से बना एक निष्कपट संसार दिखाई पड़ता है। जिन लोगों को अपने समय की यह दुनिया देखने का सुअवसर नहीं मिला है और जो महानगरीय जिन्दगी में कोल्हू के बैल बने हुए हैं, वे कह सकते हैं कि यह एक बहुत शान्त, स्थिर और आज की जटिलताओं से कटी हुई एक ऐसी दुनिया है, जिसका समय की मूलधारा से कोई सम्बन्ध नहीं। इस बात में किंचित सचाई भी हो सकती है, लेकिन कविता के सवालों को पूरा करने के लिए उस वनवासी और राज्य-निर्वासित राम के पास जाना ही होगा, जो अपनी शक्तिहीनता में भी एक ऐसी शक्ति संचित किये हुए है, जिसके बिना कविता की रामायण अधूरी है। वह

जितनी कैकेयी-मथरा और रावण के छल-प्रपंचो से बनती है, उतनी ही दुनिया से अलग दिखने वाले वनवास के उस श्रम से भी बनती है, जो उपेक्षितों-वंचितों की पहचान मे समाया हुआ है।

पूँजी की सभ्यता और सम्मान पर आधारित लोकतंत्र में आज हमारी मुश्किल यह है कि हमारा पारम्परिक पारिवारिक रिश्तो का सौंदर्य नष्ट हो रहा है। रिश्तों को विविधता, एकरूपता और यांत्रिकता में बदल रही है, उनकी ऊष्मा खत्म हो रही है। कवि रघुवंशी उनकी बार-बार याद ही नही दिलाता बल्कि उनको होते हुए भी दिखलाता है कि मनुष्यता इनको सहेजकर वैसे ही बचाए, जैसे वह नष्ट होते हुए वन्य प्राणियों को बचाने में प्रयासरत है। इस रूप मे यह कविता जीवन-परम्पराओं से जुड़ी है कि वह परम्परा में जो कुछ स्वस्थ्य एवं मानवीय है, उसे चित्रित करते हुए रेखाकित करती है।

भाव के स्तर पर चलने वाला काव्य-तर्क इन कविताओ की विशेषता है। कविता के भीतर से चलने वाले तर्क के आधार पर ये कविताएँ जहाँ अतार्किकता, अवैज्ञानिकता और अंधविश्वासो के विरोध मे खड़ी हैं, वही अपने पाठक के लिए ये नये सोच और विश्वास का पथ प्रशस्त करती हुई, अपने समय की संस्कृति का नया विधान प्रस्तुत करती है। इसलिए ये कविताएँ अपने लिए एक नए काव्यशास्त्र की माँग करती हैं। अनुभूति की जटिलता और तनाव, विसंगति और विडम्बना तथा अनुभूति की ईमानदारी जैसे नए काव्य प्रतिमानों से इनका पूरा नही पडता। प्रेमशंकर रघुवंशी की ये कविताएँ इन प्रतिमानों को लाँघकर उस ऊबडखाबड जनपद की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति हैं, जो अपने शत्रु से खुली लडाई लडने का हौसला रखता है। इनमे हिन्दी प्रदेश के बुंदेलखण्ड, निमाड़ और मालवा जनपदो का मिलाजुला मिज़ाज व्यजित हुआ है। सतपुड़ा और नर्मदा के सौंदर्य से यह लोकसभ्यता सृजित हुई है।

इनका रूप-विधान, इनकी लय, इनकी भाषा और इनका छंद अपना है। अपनी सरचना मे ये लयात्मक है और प्रगीतात्मक तथा नाटकीय हैं। प्रगीतात्मकता खासतौर से उन छोटी कविताओ मे है जहाँ कवि अपने वस्तु-क्रम को उसको विविध आवृत्तियों में घनीभूत करता हुआ निष्कर्ष पर पहुँचता है। ये सार्थकता के लिए संप्रेषण-धर्म का पूरा निर्वाह करती हैं। अपनी भूमि पर खड़ा हुआ कवि किसी विभ्रम मे नही है। उसके जीवन के अर्थ और स्पन्दन बहुत स्पष्ट हैं। वे कई जगह इतने स्पष्ट हैं कि वहाँ कविता अपनी कीमत चुकाती हुई दिखलाई देती है। ये कविताएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का चयन अपने लोक-परिवेश से करती हैं। यहाँ शब्द की परिष्कृति कवि का साध्य न होकर वह 'भावना' साध्य है, जो तद्भव के टीलों-टापरो की अनभ्यस्त और ऊबड़खाबड़ दुनिया मे मिलती है।

प्रेमशकर रघुवशी की लम्बी कविता 'चचा ताँगे वाले' – इस संग्रह की कविताओं मे जहाँ अपनी संरचना मे अन्य कविताओ से विशिष्ट है, वही भाषा की दृष्टि से भी वह भिन्न है। यहाँ 'चचा ताँगे वाले' का चरित्र अपने आप मे एक साम्प्रदायिक चरित्र से भिन्न है और

वह अपने सोच-विचार तथा कार्य-व्यवहार मे न केवल साधारणता में विशिष्ट है बल्कि बहुत प्रेरणास्पद भी। वह एक जीवित और सांस्कृतिक लोकचरित्र है। देश के मेहनतकशों में ही ऐसी सांस्कृतिक संभावनाएँ हैं कि जो अपने धधेपानी के चलते हुए मनुष्य की सस्कृति को भी अक्षुण्ण बनाए रखते हैं।

इन कविताओं की संरचना में कवि के गीतकार की ताल अलग से सुनाई देती है। प्रगीत की शक्ति से सृजित कविताओं के बेहतरीन उदाहरण इस संग्रह में हैं और नाटकीय संरचना में रची उम्दा कविताओं के भी। इनमें, यद्यपि हमारी आज की जिन्दगी की ऐठन, मरोड़, तनाव तथा औद्योगिक सभ्यता की जटिलताओं के दुर्वह व दुर्बोध रूप ज्यादा नही हैं तथापि ये जीवन-सौंदर्य के जिस जरूरी पक्ष को उद्घाटित करती हैं, वह कवियो के वर्ग-विशेष में अनजाना होने के बावजूद हमारे आसपास दूर-दूर तक पसरा हुआ है। इसी धरातल पर ये क्रूर और कठोर समय मे कोमलता और उल्लास को ढूँढकर दिखाने वाली कविताएँ हैं।

27 मार्च 1998 डॉ. जीवनसिंह
अलवर (राज.)

ज्यादा प्रीतिकर लग रहा है

सोचा-अब तक किसी संग्रह में भूमिका नहीं दी है तो इसमें दी जाए। और अपने काव्य के मकसद-मुकाम पर कुछ कहा जाए। तभी विचार आया - भूमि तो पाठक तय करता है, वही इसका अधिकारी है। वही तय करे। असल भूमिका तो उसे ही देनी है। मेरी भूमिका तो अकेली और एकांगी रहेगी जबकि पाठकों की यकीनन अनेकांगी होंगी। पाठकों के साथ अपनी बात कहने के अवसर मिलते ही रहेंगे, तब किसी अगले संग्रह में कहना मुनासिब रहेगा।

'पकी फसल के बीच' नामकरण से लेकर रचनाओं के चयन, क्रमांकन और उन पर आलेखन तक प्रखर समीक्षक ज़ीवनसिंह जी ने कविवर विजेन्द्र जी के साथ मिलकर जिस भूमिका का निर्वहन संग्रह के लिए किया है उसके मुकाबले अपनी कविताओं पर कुछ भी कहने के बजाय फिलहाल इनके प्रति आदर और आभार प्रकट करना ज्यादा प्रीतिकर लग रहा है। यह इसलिए भी कि इनसे मेरा आत्मीय परिचय मेरी कविताओं ने ही कराया है। और मायामृग जी के प्रति जिनने अरावली लाँघकर सतपुड़ा तक लम्बे हाथ करके यह पाण्डुलिपि प्राप्त कर इसे खूबसूरती से प्रकाशित किया और आदरणीय भाई साहब शिवकुमार सहाय (परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद) के प्रति भी जिनने अपने पास रखी यह मूल पाण्डुलिपि भेजकर इसे प्रकाशित करने की अनुमति दी।

हरदा
8 जनवरी 2000 (जन्म दिन पर)

-प्रेमशंकर रघुवंशी

कविवर विजेन्द्र, डॉ. कान्ति कुमार जैन
और डॉ. जीवनसिंह को
सादर-सप्रेम

आभार

पहल, वसुधा, समकालीन भारतीय साहित्य, हंस, वागर्थ, अक्षरा, साक्षात्कार, अक्षरपर्व, आकण्ठ, जनसत्ता (बंबई, दिल्ली) राष्ट्रीय सहारा, विवेक वाणी, वर्तमान साहित्य, कल के लिए, सूत्र, यावत, कृति ओर, दैनिक भास्कर, गगनांचल, देशबन्धु, नई दुनिया, मंथन आदि पत्र-पत्रिकाओं के प्रति जहाँ ये कविताएँ छपती और चर्चित होती रहीं।

रचनाकाल

इस सग्रह की पाँच कविताओं – कही न कहीं (1986), जब (1987), विजय दशमी का जुलूस (1972), नर्मदे हर (1973), कुछ न कुछ बोलो (1974) – के अलावा अन्य सभी कविताओ का रचनाकाल 1990 से 1997 का समय है।

जब

खिल गये धरती आकाश
धूप के पैदा होते ही

बजने लगे नगाड़े घटाओं के
पानी के जनम पर

कण कण हो उठे गतिवान
हवा के अवतरण पर

धूप, पानी, आकाश
और कण कण की गति से परे
क्या होगा उस वक्त
जब जन्म लेगा नया इंसान!

आभार

पहल, वसुधा, समकालीन भारतीय साहित्य, हंस, वागर्थ, अक्षरा, साक्षात्कार, अक्षरपर्व, आकण्ठ, जनसत्ता (बंबई, दिल्ली) राष्ट्रीय सहारा, विवेक वाणी, वर्तमान साहित्य, कल के लिए, सूत्र, यावत, कृति ओर, दैनिक भास्कर, गगनांचल, देशबन्धु, नई दुनिया, मंथन आदि पत्र-पत्रिकाओं के प्रति जहाँ ये कविताएँ छपती और चर्चित होती रहीं।

रचनाकाल

इस संग्रह की पाँच कविताओ – कहीं न कहीं (1986), जब (1987), विजय दशमी का जुलूस (1972), नर्मदे हर (1973), कुछ न कुछ बोलो (1974) – के अलावा अन्य सभी कविताओ का रचनाकाल 1990 से 1997 का समय है।

जब

खिल गये धरती आकाश
धूप के पैदा होते ही

बजने लगे नगाड़े घटाओं के
पानी के जनम पर

कण कण हो उठे गतिवान
हवा के अवतरण पर

धूप, पानी, आकाश
और कण कण की गति से परे
क्या होगा उस वक्त
जब जन्म लेगा नया इंसान!

मित्रवर

बहुत दिन हो गये
न नदियों को हवा खाते देखा
न पहाड़ों को पानी पीते
न जंगलों को आग खुरचते
न बीजों को माटी मिलते

बहुत दिन हो गये आकाश देखे
सूरज-चाँद-तारों का प्रकाश देखे

चलो! किसी दिन
अपने सतपुड़ा में ही चले चलें
और देखें यह दृश्य
चलो मित्रवर
किसी दिन अवश्य।

जिनसे

जिनसे तंग आकर
आत्महत्या तक पहुँची औरत
वे ही
अपनी पूरी सुरक्षा के बाद
बचाने दौड़े उसे
और जब
भेजी गई लाश पोस्टमार्टम को
तो लपककर
चीलघर की मगरी पर जा बैठे हत्यारे

यह देखने कि
आखरी पत्ते के झरने तक
पतझर का मौसम बना रहे
ताकि बसंत की कोपलों के आने तक
हत्यारों के विरुद्ध
गवाही का एक भी सबूत न रहे।

बेटी का पहला खत

बेटी ने लिखा है-
बापू! आँगन की गठरीभर धूप भेज दो
लिखा है-
थोड़ी-सी पत्तियाँ ही पठा दो
बाड़े वाले आम की

घिनोची में फुदकती
गौरैयों की चहक माँगी है पगली ने

अन्त में लिखा है-
ढेर ढेर बातें लिखना चाहती हूँ बापू
लेकिन अपनी गिरस्थी को जुकाती फटकती
तुम्हारी नसीहतों के सपनों को
सुलझा रही हूँ फिलहाल
ताकि चलती रहूँ
अपने पांव अपनी चाल।

बेटी का दूसरा खत

पत्र के जवाब में
बेटी ने ससुराल से लिखा है–

तुम मुझे जीवन राग के वास्ते
जो बातें लिखते हो
वे मेरी समझ में तो झट्ट आ जाती हैं बापू
लेकिन ससुराल वाले
जब तेरा खत पढ़ते हैं
तो अन्दाजने लगते हैं, कि–
बहू में जरूर होगी कोई खोट
तभी तो उसका बाप
हरेक खत में नसीहतें लिखता है

बापू! तुम अपने जैसा
और कब तक
पारदर्शी समझते रहोगे सभी को
और कब तक
पालते रहोगे भावुकता के भ्रम
फिर भी मेरी बात को
गंभीरता से मत लेना बापू!
बेटी के खत में इतनी इबारत के बाद

कुछ लकीरें कोरी पड़ी हैं
जहाँ आँसुओं की लड़ी हैं

अंत में आड़ी तिरछी लिपि में लिखा है-
शेष कुशल है पिता!
आपकी बेटी अपराजिता!!

मखौल उड़ाते लोगों से

पसीने का तुम्हें
जितना भी मखौल उड़ाना हो उड़ा लो
लेकिन जिस वक्त
कविता तुम्हें देखना शुरू करेगी
वह तुम्हारी मौत तक
शब्दों की लंबी कतार खड़ी कर देगी
जिसमें यदि चींटियाँ भी दाखिल हुई तो-
वे भी, तुम्हारी हकीकतों का बयान करेंगी

जितनी देर तुम फक फक कर रहे होगे
मैं एक कविता पूरी कर चुका होऊँगा
माँएँ बच्चों को दूध पिला चुकी होंगी
फूल खिल खिल खुशबू बिखेर चुके होंगे
और पकी फसल के बीच खड़े
किसान की दुआएँ – धरती के लिए
तृप्ति की धूप सकेल रही होंगी
तुम्हें जितना भी मखौल उड़ाना हो
उड़ा लो
लेकिन तुम अपनी ही रोशनी से ग़ाफ़िल
एक बंद सूरजमुखी तो अब भी हो।

भूख का नाता

प्रदूषण के करिश्मे दिखाता
जब भी सागर या नदियों को छेड़ता कोई
मैं अंदर तक छटपटा जाता मछली-सा
मेरी भूख के लिए
समाधान जो है जलाशय!

ओजोन की पर्तें फाड़
जब भी मारता कोई आकाश पर झपट्टा
मैं अंदर तक झुलस जाता
आँच खाई फसल-सा
मेरी भूख के लिए भरोसा जो है सूरज!

करता जब भी बादलों के साथ कोई
बारूदी धुएँ की मिलावट
मैं अंदर तक सकसका उठता निमोनिया-सा
मेरी भूख के लिए
रोटी की महक जो है बादल!

रौंदता कोई भी जब पहाड़ की फिज़ाँ
काटता जंगल
मैं अंदर तक लहुलुहान हो उठता

दगा खाये दोस्त-सा
मेरी भूख के लिए भरा थाल जो है जंगल!
आदमी को टुकड़ा-टुकड़ा बाँटकर
रचता जब भी कोई धरती पर फसाद
मैं अंदर तक चिटक जाता अकाल-सा
मेरी भूख के लिए
सहभोज की परोसी पत्तल जो है धरती!

एक साथ

मैंने लिखनी चाही कविता
उसी क्षण
गोद में आ बैठी नन्हीं बिटिया

कविता लिखने के क्षण
वात्सल्य से भरे होते हैं

कविता लिखते लिखते
बेटी सयानी होगी
मुझे उसकी चिन्ता होगी
तब विदा की बेला में फूटेंगी
बिटिया और मेरी आँखों से कविताएँ साथ-साथ

कहीं न कहीं

सड़कें सड़कों से छेड़छाड़ करती
आड़ी तिरछी बलखाती
राजमार्गों से जुड़ जातीं कहीं न कहीं

पटरियाँ पटरियों से सन्नाती
बोलती-बतियाती थर्राते हुए
जंक्शनों से जुड़ जातीं कहीं न कहीं

आकाश, आकाशों से सर्चलाइट के
संकेतों की प्रतीक्षा में तैनात सैर सपाटों को
हवाई हड्डों पर चढ़ते उतरते कहीं न कहीं

हमें भी अपने पांवों के नीचे
पुख़्ता करनी है
सत्य-संज्ञान की ज़मीन कहीं न कहीं।

छोटी जगह

वैसे लिखने के लिए
छोटी जगह ही चाहिए
लेकिन बड़ा कठिन होता
छोटी जगह में लिखना

जहाँ न तो भावक होते
न प्रेरक, न सलाहकार
होते हैं तो सिर्फ
ईर्ष्या से किटकटाते बन्धु

कितना कितना कठिन होता है
छोटी जगह में लिखना
जबकि लिखने के लिए
छोटी जगह ही चाहिए।

आलिंगन

गुनगुनी धूप ने
छुआ
तो पिघलता रहा
देर तक
और वह भी
आहिस्ता आहिस्ता
समाती रही मुझमें

एक दूजे की
गन्ध में डूबी
पसीना पसीना
होती रही देह
और मिटती रही
निस्संदेह
आत्मा से
आत्मा की दूरियाँ।

गर्भगृह तक

हवा ने पेड़ों के कान में कुछ सुरसुराया
और बजने लगे कछार

ओर छोर थिरकने लगी नदी
और फिसल चले लहरों के रुमाल हिलाते प्रपात

कोसों दूर से प्रिया-पुकार सुन
पल्लर पल्लर झूम उठा सागर

तभी धूप-दीप से महकते बादल आये
और लाद चले भाप भाप उसे

थाम लीं मशालें बिजलियों ने
और घरघराती चल पड़ी गजयात्रा आकाश से

आजकल इनकी ही पहुनाई में लगी धरती
पानी पानी है गर्भगृह तक!!

सांस्कृतिक हमला

आप चाहते हैं
कि आपके मकान में
चारों तरफ से
हवा, प्रकाश आते रहें
तो मेहरबानी करके
घर के आसपास
प्राचीरें मत उठाइये

खोले रखिये घर की आँखें
और ज्यादातर खिड़की दरवाजे अपने

लेकिन यह करते हुए
आप सावधान भी रहिए कि कहीं
शान्त आक्रमण की तरह
प्रवेश तो नहीं कर रहीं चालाक दिशाएँ

वरना आप
अपने ही घर में खुद को गुलाम पायेंगे
तब आपके पैर
आपकी सांस्कृतिक गिरफ्त से
धीरे-धीरे उखड़ते जायेंगे।

पिता की डायरी

माँ ने जतन से रखी है पिता की डायरी
चाहे जब एकान्त में फेरती उस पर हाथ
ठीक उसी तरह जैसे कि-
आखरी वक्त तक फेरती रही थी
पिता की देह पर

अकेले में चाहे जब आले में रख लेती
और जब भी कोई होता तो
झट्ट से पुराने सन्दूकचे में रख देती उसे
जो गौने की विदाई पर
नाना के घर से उनके लिए आया था

ऐसा क्या है पिता की डायरी में
कि माँ उसे गिरन्थ-सा सहेजती
गरीब की पूँजी-सा संभालती
और उसके खातिर चार आठ दिनों से ज्यादा
हम लोगों के पास भी नहीं रूकती कभी

पिता ने खुद अपने हाथों बुना था जीवन
खुद ठोकरें झेलते हुए दचका दचका बचाते रहे घर
उई की ध्वनि तक नहीं निकाली आँगन तक

खरोंच तक नहीं आने दी फाटक पर
किफायत से जोड़ते रहे गिरस्थी
और कई बार ठगे जाकर भी उनने
नहीं लिखा ठगों का हिसाब डायरी में कभी
इसके बाद भी जिस दिन कक्का ने
पिता पर कर्ज बकाया की बात कही
तो माँ डायरी का पन्ना पन्ना
बाँचती बँचवाती रही थी उस दिन
जिसमें कहीं भी नहीं लिखी थी
कक्का की उधारी वाली सिलग
तबसे माँ लंबी साँसें छोड़ती
घण्टों चुपचाप बैठी रहती है

माँ ने किसी को भी नहीं कोसा आज तक
इसलिए कि पिता की डायरी में
कहीं भी नहीं टँका है
किसी को भी कोसने का हिसाब
वहाँ तो पाई पाई नामा जमा है
भूल चूक लेनी देनी तक का

मेरी ही जाँघ पर
सिर रखे उस दिन
मानों एक एक साँस का हिसाब किताब
चुकता करते हुए
चल बसे थे पिता
जस की तस-
बेदाग पड़ी थी उनकी देह-
छोड़ी हुई डायरी की तरह

साँस का आखरी तार टूटने तक
समझाते रहे थे पिता

यह कहते हुए कि-
सिर्फ हिसाब के लिए ही
रखी थी डायरी उनने अपने पास

फिर कहा था मुझसे यह कि-
सौंप कर जा रहा हूँ तुम्हें
ज्ञान गूदड़ी रचता ये आसमान
माटी के दिये उजालती ये धरती
लगातार घूमती समय की सुइयाँ
और पल पल संघर्ष करता हुआ समाज

यही सब तुम्हें
परिवार के साथ सौंपकर जा रहा हूँ बेटे
तुम इसे पृष्ठ पृष्ठ
पढ़ते गुनते रहना मेरे बच्चे!

तबसे मुझे नींद में जब तक
इसी तरह बतियाते
दिखाई देते हैं पिता
और तभी से
रख छोड़ी है माँ ने अपने पास
जतन से पिता की डायरी॥

पृथ्वी के जन्म पर

पृथ्वी का जन्म हुआ तो
पहले पहल चुम्बन को दौड़ आया सूरज
हवा ने डाल दिये झूले डाल डाल
और इतने इतने गीत रचे निर्झरों ने
कि वे सदा-सदा को कल कल छल छल हो गये

पृथ्वी का जन्म हुआ तो
बिना सलवटें खाये पूरी की पूरी चाँदनी
बिछ गई चादर-सी
छा गया लिहाफ-सा आकाश
और प्रकृति की छाती से
फूट पड़ीं वात्सल्य की असंख्य रंगीन लहरें

पृथ्वी का जन्म हुआ तो
जहाँ जहाँ दृष्टि डाली उसने
वहाँ वहाँ प्रार्थना-सा किलक उठा जीवन
और जड़ से चेतन तक
व्यक्त हो उठी प्रकाश की भाषा
पृथ्वी के
जन्म पर!!

अब ये हाल है

कहाँ जा रहे हो बाबू ?

माफ करना मैं कोई
उपदेशक नहीं हूँ
फिर भी तुम्हारी धज देखकर
पूछने का मन हो गया है

पहले पहल मैं भी
तुम्हारी ही तरह
चाहे जहाँ चल दिया करता था मुँह उठाये
पहले पहल मैं भी
तुम्हारी ही तरह
महीनों तक हँसता ही नहीं था बाबू!

अब ये हाल है कि
मेरी आँखें तक हँसती हैं
और पांव तक पहचान लेते सफर
अब ये हाल है कि सुन लिया करता
कोसों दूर से आती मेमनों की गुहार
और भेड़ियों की गुरगुरी
अब ये हाल है कि

दोस्त और दुश्मन के गलों को
ठीक से पहचान लेती हैं
हाथ मिलाते ही मेरी हथेलियाँ
अब ये हाल है कि मैं
चुस्त चौकन्ना निकलता हूँ घर से

अब ये हाल है बाबू
कि मेरी मुट्ठियों में हर वक्त
एक न एक शानदार सपना होता है
जिसका जादू मुझमें
चलने ही चलने का विश्वास बोता है

अब ये हाल है बाबू कि मैं
इन्हीं के साथ रहता हूँ
और तुमसे भी किसी न किसी
अच्छे सपने को सहेज लेने का आग्रह करता हूँ

इसलिए कि बेमतलब दौड़ने वाला
अब मेघ का घोड़ा भी
पूरी करके बैठ जाता है कहीं भी।

तवा

चूल्हे पर चढ़ते ही
चमक उठतीं घर की आँखें
तब मेरी तपस्वी देह से
उठने लगती सौंधी बयार
चित्तियाँ पड़ी रोटियों की

फैल जाती पास पड़ोस मुहल्ले तक
चौके की गमक
जो नाक के जरिये
जीभ पर मीठा स्वाद रचती
आँतों तक लार लार समा जाती

खिल खिल खुलती जाती
कोशिकाएँ देर तक

मैं तवा हूँ तवा
भूख के लिए एक तृप्त आश्वस्ति
कि रोते बिलखते बच्चे भी
मेरी धूनी तक आते-आते
भले चंगे किलकारियाँ भरने लगते

सदियों से आबरू की तरह
मुझे ही संभालती हुई औरत
अन्नपूर्णा है आज तक
और माँ है हर वक्त
आँच से नहलाती हुई मुझे।

कविता होते हैं बच्चे

फूल पत्ती पर लिखना है
लिखना है तितली पे कविता
नदी झरने पर लिखना है
लिखना है चिड़ियों पे कविता
सूरज चाँद तारों पर लिखना है
लिखना है फसलों पे कविता
पहाड़ जंगल पर लिखना है
लिखना है अमराई पे कविता
सम्बन्धों के गर्व पर लिखना है
लिखना है ऋतुओं के पर्व पे कविता

रात भर करवटें बदलता
ऐसे ऐसे विषयों पर सोचता रहा कवि
और भोर के साथ ही
फूल पत्ती से महकते
चिड़ियों से चहकते
नदी झरनों प्रपातों से खिलखिलाते
घर आँगन तितली तितली
फुदक उठे हैं बच्चे

सूरज के साथ दातून करते
सुना रहे बच्चे आपस में सपने
कि जिनमें उन्होंने अपने अपने-
जंगल पहाड़ मैदान तक
खेल खेल में
कितना छकाया
चाँद तारों को रात भर

कितनी कितनी किलकारियाँ बिछाईं
गाँव से अमराई तक
कि जिनके साथ
लह लह झूम उठीं फसलें
कि जिनके साथ थिरक उठी
दिशा दिशा ऋतु गंध
कि जिनके साथ द्वार द्वार झूल उठे
सम्बन्धों की झालरें झूलते वत्सल छंद

अपने आपमें साक्षात सुलझी हुई
कविता होते हैं बच्चे
और बिम्बों की टोह में करवटें लेता
साक्षात उलझा होता है कवि।

चचा ताँगेवाले

मेरे मन में
कुए की जगत पर
घड़े के निशान की तरह
चचा ताँगेवाले की
यादों के चोए भरे हैं
जिनमें स्मृति के
चेनुए नहाते हैं
अब भी।

अब भी चमक उठते चचा
ताँगे की
जलती कन्दील की तरह
विचारों में।

चचा के ताँगे की कन्दील
अँधेरे की
बदनीयती के कान उमेठती
खबरदार निगाहें रखे
आगे आगे
तैरती थी सड़क पर।

बस्ती की
शिराओं की
एक धड़कन थे चचा।

हट जाना जीजीबाई
मेरे दादा
खाला जान
बेटी मेरी
ओ प्यारे मुन्ना
ठीक से खेल भैया
जैसी दिलकश राग के
टिप्पे उछालता
जहाँ जहाँ से
निकलता ताँगा
वहाँ वहाँ की
टप्कार से
पट जातीं सड़कें
और चारों तरफ से
सलाम, आदाब अर्ज
राम-राम, नमस्ते की-

उरियाती-सी
झरने लगती झर झर।

जहाँ भी
थिगलियाँ ओढ़े
झुर्रीदार सड़क दिखती
चचा की
आदमकद उनियार
मेरी आँखों में
उभरती

कोई तिलिस्मी
नहीं थे चचा
सादा थे सादा
इतने सादा
कि हैरत होती है
उस सादगी पर
सोचते हुए
खेत की
फसल जैसे-जहाँ;
धूप हवा पानी
दानों में समाकर
आपों आप-
अन्न की
मिठास हो जाते हैं।

अपनों के
सर्पदंश चूस-चूस कर
कितने काले
पड़ गये थे वे
कितना कितना
चेंक जाती थी
लोगों को
झुलसाती लपट
अन्दर तक उन्हें।

बरहमेस
उक्तियाँ, कहावतों में बोलते
या अपनी
सूक्तियों में
शब्दों के
इतने किफायतसार कि
मजाल है
जोत दें
सवारी के बैल
छकड़े में।

आँख नाक कान
अँगुलियों और जुबान से
मानों चख चखकर
निकालते
दिल के खजाने से
एक एक लफ्ज।
'अगरचे' 'अगरचे' तकिय
कलाम था
चचा का
जो अलग-अलग मौकों पर
अलग-अलग
मायने रखता था
बोलते वक्त
उनके हौंसले

कभी विन्ध्या
कभी सतपुड़ा
कभी नर्मदा
तो कभी
कन्देली, मोरन-
गंजाल होते थे
आनंद
और कल कल बहते
सौंधी खुशबू की तरह
फैलते हुए।

शिवनीमालवा से
बनापुरा टेशन तक
भूत को
ताँगे के धुरे से
बाँधे
उनकी हर खेप
वर्तमान को ढोती
किसी हज यात्रा से
कम नहीं होती थी
जिसमें वे सवारियों को
पूजापाठ के
नमाज के
वजूद बताते हुए
एकाएक
कह उठते थे
सब बेकार है भैया
अल्लाह खुदा
पीर-पैगम्बर को
ईश्वर-भगवान को तो

आदमी ने
खोजा है
अपना रब
अपने मन के
गुफाओं से

कहाँ है साहेब ?
न मंदिर-मस्जिद में
न काशी-काबा
गिरजा-गुरुद्वारे में
यों तो
आदमी की पाक तसव्वुर
जिसमें वह खुद को
नेक बनाने की
नीयत रखता है
अगरचे ऊपर होता
ऊपर वाला
तो वो ऊपर ही ऊपर
करता सब कुछ
और आदमी
कुछ भी नहीं
कर पाता नीचे

दुनिया आज तक
जितनी भी
खूबसूरत हुई है
वह इंसान के
पसीने से
नहाकर ही है।
आज तक

किसी भी ईद पर
आसमान ने
कपड़े नहीं दिये
बच्चों को
न सिवँइयाँ
न शरबत
न इत्र के फाहे
मैंने ही
खिला पिलाकर
बनाई है
घोड़े की सेहत कि
जिसके बदन से
नज़रें भी
फिसल जाती हैं
और जब भी
चार पैसे हाथ में आये
अपनी औलादों को
खुशियाँ बख्शी हैं
मैंने
और उन्होंने
भी मुझे
प्यार की
आशनाई दी है

दोजख और जन्नत
यहीं नसीब होते हैं
अपनी ही मेहनत के
आशियानों से।

न तो अल्लाताला
किसी
फलक
खलक
पर ही होता है
न दर जमीन
वो तो
हमीं हैं हमीं
अपने अपने
कामों को
सलीके देते
उसीका
नाम लेते हुए
रहमोकरम
फिर ये
खुदा को
भगवान को लेकर
इतनी किल्लत.
किनके फितूरों से आई
बोल मेरे भाई ?

मेहनत के आगे
सारे खुदा
धूल चाटते हैं
अब तो जमातों में भी
साफे बाँधे
रुतबे
नसीब होने लगे हैं
और मजलिसों में
सियासी मसलहतों के
सिलसिले
जो अपने

मुल्क के अलावा
बेगाने
मुल्कों के लिए
दीवाने
अब्दुल्ला होते हैं
जबकि
फिक्र होनी चाहिए इन्हें
कि अहमद ने
अब तक
पूरे सिपारे
क्यों नहीं याद किये ?
नजीरा को
नई तालीम मे
क्यों रोक लिया खालिद ने ?
आये दिन
क्यों सिसकता है
करीम भाई का
उठाऊ चूल्हा ?
क्यों होती है
जर, जोरू, ज़मीन पर
गैरों की
दखलंदाजी चाहे जब ?

ये वो हैं
जो मज़हब की
तवील कुशादगी को
मुख्तसर
करते जा रहे हैं
और सोचते हैं
कि वे हैं
चाँद तारों तक
परचम फहरा रहे हैं

पाले
मादरेवतन की
सरजमीं के
आये जम जम से
सरफरोशी की
तमन्ना को तो धो लेते
कि
यहीं के
कन्धों पर चढ़कर
निकलेगी
आखरी सवारी
और यहीं की
सन्दली खाक में रहेंगे
कयामत के
बाद भी हम सब।

भाई।
इन नादानों ने तो
मेरी
जात तक गँवाई
तभी तो-
"मुसि मुसि रोय
कबीर की माई"।
हर खेप
एक विजय यात्रा
होती थी चचा की

जिसे पूरी कर
घर आते
तो लगता
सुबह का पंछी
मानो
पंखों में
आसमान भरे
लौट आया हो
नीड़ में
जिसके आते ही
चहक उठता घोंसला।
देर तक
खिलखिलाती रहती
घर की
पोर पोर
चचा के साथ
तब
पड़ोस को भी
एहसास होता
कि कोई
पहाड़ी झरना
कन्देली की
मेहवानी छोड़
उनकी झोंपड़ी तक
आ गया हो
और पूरे
मोहल्ले को
प्रेम-राग गा गाकर
नींद की
गोदी में
सुला रहा हो।
ऐसा नहीं
कि चचा की टपरिया
आँसुओं से
तर न हो
लेकिन
अपनी तकलीफों को
मिमियाने
रिरियाने के वास्ते
पालतू जानवरों की तरह
अपनी ही थूनी से बाँधकर
नहीं रखा उन्होंने
बल्कि
अपने जैसों के
सुख दुख में
घोल लिया था
उन्हें
और इसी रंग ने
सबके साथ
और सबको साथ लेकर
चलने की कामयाबी
बख्शी थी उनमें।
तजुर्बों की पाटी पर
जिन्दगी रचते
सुबह से शाम
ताँगा टिटकारते
सारथी हुआ करते थे
वे

और तौबा तौबा करके
सुनाया करते थे
अक्सर कृष्ण
और शल्य का किस्सा
अपने अगरचे वाले
तकिया कलाम के साथ
कि न करे खुदा
न दिखाये
भगवान किसी को
ये दिन
कि उसका हकैया
शल्य हो
जिसने सूरज जैसे
कर्ण के
कवच कुण्डल की आग
बदजोशी
और शकोशुब्ह के
गंदले पानी से
छुन्न-छुन्न
बुझा दी थी
इसीलिए ताँगे की
शुरुआत से ही
मैंने अपने भीतर के
शल्य को
सड़े भूसे की तरह
उलीचकर
फेंक दिया था
बाहर
और तभी से

सवारियों को
अर्जुन की तरह
ठसका ठसका
बनाता आया हूँ
आज तक।
कभी नहीं सौंपता
घोड़े की रास
ग़ैर के हाथों
इसलिए कि-
"खेती पाती बीनड़ी
अरु घोड़े का तंग-
अपने हाथ संभालिये
लाख लोग हों संग"
यह सुना था कभी
भीलदेय के
चबूतरे पर किसी से
जो तब से
तावीज की तरह
मेरे ख़यालों की
बाँहों में बँधा है।
चाहे जितने
उलझे हों चचा
किन्तु उनके
घोड़े के दुधिया अयाल
छिन भर भी
नहीं उलझे कभी।
चने में
दूब-चारे-पानी में
अन्दाजते चचा

घोड़े के पुट्ठों–जाँघों पर
चढ़ता गोश्त
और उसके बदन से
छलकती फुर्ती।
अपने हाथों
घास के पूले खिलाते
देखते चचा
घोड़े की
चिलकती आँखें
खड़े कान
पूँछ का चँवर
और खुर्रा
फेरते हुए उस पर
रोयाँ रोयाँ
खिल जाता उनका भी
मजाल है
कि बगई या गोंचड़ी तक
चिपक जायें
घोड़े के पेट पर

घोड़े की
दुड़की चाल में ही
देखते थे
चचा
जिन्दगी की रवानी
और उसकी फुर्ती में
सुनते थे
जीवन का संगीत

चाबुक तो कभी
रखा ही नहीं
चचा ने
वे कहा करते थे–
चाबुक वाला हाथ
शैतान का होता है
जो हरेक को
अपनी सवारी का
घोड़ा मानकर
बरसता रहता
सटासट्ट।
टेशन तक ही
लाते ले जाते थे
लोगों को चचा
जो बेवतन होकर
फैल जाते
दुनिया के
कोने कोने में
पेट के खातिर।

जब भी छुट्टियों में
घर आता
तो रेलगाड़ी से
उतरते ही
हिनहिना उठता
उनका ताँगा
तब वे
प्लेटफार्म से
लपक लेते थे
हाथ का सामान
फिर रास्ते भर
हालचाल पूछते

गई रतों
जान लेते थे
मेरा मुख दुख
और जिस दिन
नौकरी पर लौटता
वे मुझे
रेल में बिठाकर
हर बार
यही कहते-
''जरदार पूत नाहर,
घर रहे या बाहर
मुरदार पूत बिल्ली
घर रहे या दिल्ली''
चचा की ये नसीहत
मेरी कमीज के
खीसों में
अगली बार के
घर लौटने तक होती
अब उनका यह कलाम
वसीयतनामे की तरह
महफूज है
मेरे पास।

आज सपने में
आये चचा
और बोले
उठो! अस्फेर की
कायनात से
तुम्हारा
नाम कर दूं
यह कहते हुए
वे मुझे
पहाड़ों
मकबरों
मजारों और
टूटे फूटे
मन्दिर-मस्जिद के
मलबों से निकाल
कन्देनी के
किनारे किनारे ले चले
और एक जगह खड़े होकर
बोले-
देखो!
अपनी ये नदी
जहाँ जहाँ से होकर
आती है
वहाँ वहाँ के डाँगर का
हाल सुनाती है हमें
कि किस घाटी में
कितनी
काट छाँट चल रही है
देखो! वो चट्टान से कूदकर
लपकती धार
चोटों की
किसी व्यथा का
इजहार है
और काई चढ़ा पानी
पठारों की

बदनीयती का।
अरे ये नदी तो
पुरते पुरते रेला
और पहाड़ कटते कटते
ठूँठ हुए जा रहे
अब हम मैदानों तक
छककर हरियाली
और गलियों तक
किलकारी
कैसे
देख सुन सकेंगे
भाई ?

इस गंगा को
मुसलसल
बहाने के लिए
भगीरथों की
दरकार है
इसे खोदो!
इसके खोदने पर
हरी बाँसुरी बजाते
वन बसेंगे
कोई फरिश्ता
नहीं उतरेगा यहाँ
फरिश्ते या देवता तो
ऐश करते हैं, ऐश।

दक्ष परजापति के
यज्ञ तो
दिल्ली में
ही होते रहेंगे
और घर की
बेटियाँ तक
नहीं न्योती
जायेंगी वहाँ।
जहाँ
देवों के लिए ही
सिंहासन लगे हों
वहाँ आदमी
या औरत को
कौन पूछेगा ?
गणों को मत रोको
करने दो उन्हें
अपने अपने काम
लेकिन तुम तो
जन गन मन के साथ
तैयार करो
आदमी को।

देवता
पसीने से नहीं
सुरा-सुंदरी से
नहाते हैं
और अपने
लोक के लिए ही
बड़े बड़े घोटाले
करते हैं।

सागर मंथन का
जहर हो

या गैस रिसन का
या ऊँच
नीच का
देवताओं के लिए
यह बेकसों की
मौत को देखने का
एक तुफैल होता है।

अब
एक नई
आवाज पर सोचो
और धूनमथान बने
मत बैठो
ताकि हमारी
सभी नदियाँ
साफ सुथरी
मुकम्मिल
नदी हो सकें
और हमारे
सभी पहाड़
हरे भरे
मुकम्मिल पहाड़।
तभी
घर के
सामने से
पहाड़ पे
चरने जाती
बकरियों की रेवड़ से
गोद में
एक मेमना उठाये
किलकारी संग में
लिए गया, कहते हुए -
"मुहब्बत ही असली नमाज
मैं भी
जोर से चिल्लाया-
"मने यही हमारी भी
आवाज है"

चिल्लाने से
सुबह का
यह सपना
यहीं
टूट गया है
और पूरब से
हिनहिनाता हुआ रथ
छूट गया है
जिसकी लगाम
ऐनवक्त
हमारे हाथों में
होने के
इन्तजार में है...

इतना भी नहीं सोचा

जब देने ही निकले
तो गालियाँ ही दीं
दुआएँ भी तो दे सकते थे
जबकि दोनों ही आवाज़ की बेटियाँ हैं!!

इतना भी नहीं सोचा
कि वे सब पलटकर
कालोंच जैसी चिपकती रहीं तुम पर!

तुम्हें तो होली से
खेत की मुट्ठी भर बालियाँ सेंक-
करछुल भर अंगारे लाने भेजा था माँ ने
लेकिन तुमने तो
अपना चेहरा ही झुलसा लिया वहाँ!!

अब कहाँ पा सकेंगे पिता
पुत्र गर्व का भरोसा तुममे ??

वो देखो! भोर से
नर्मदा में नहा धोकर लौटी भौजी
नए गेहूँ का

परात भर आटा मीढ़े
कण्डों का जगरा लगा रही है।

और पहले रोट की मंगल होम से
घर-आँगन-गाँव को महकाने
मलरियों की माला सँजोए
चौके में बैठी अन्नपूर्णा माँ
रसोई बनाने को आतुर
चूल्हा चेताने की चिन्ता में
बार-बार उसाँसें ले रही है!!

सतपुड़ा की पसलियों से रिसता : धनपाड़े का नाला

नाला-एक

पहाड़ों पठारों से होकर
सिर पर समाधान की पुटरिया लादे
हाट को निकले आदिवासियों-सा
चिरोरी करता
छिन छैंया छिन धूप होता
रेले रेलियों संग टीकू टीकू खेलता
सतपुड़ा की पसलियों से रिस रिस कर बहता
धनपाड़े का नाला
धारोष्ण दूध की झाग-सा उठाता
हरेक की अगुवानी को
टनटनाट है आठों पहर।

नाला-दो

बाँसवन के घोसलों से
मानों किसी गौरैया के
पके अण्डे से निकलकर
चेनुए-सा फुदक रहा नाला

जिसे चुगाने दूर तक
छिटक रहीं बाड़े-बाड़े
कोदों-कुटकी-बाजरे की
छरहरी बलियाँ।

नाला-तीन

तारों तारों
फुनफुनी बूँदों सा
नाचती गाती जाती जाती
बिखर जाता नाला
और सिमट कर
गोल गोल लड्डू-सा
मुख में समा जाता

चाहे चूरा हो या लड्डू
हर हाल में मीठा ही लगता नाला।

नाला-चार

पहाड़ की कोख से प्रकट होता
उन्मत्त कोमल नवजात की तरह
किलकारियाँ भरता
लहरों की डोर से-
भर भर पेंगें झूल रहा है नाला

अकेला मत छोड़ो
इसलिए कि किनारे-किनारे बना लिए इसके
साँप, बिच्छू, अजगर, गोयरों ने बिल
बर्रों ने छत्ते
वन भक्षियों ने मचानें

अकेला मत छोड़ो मोहन को
इसलिए कि-
इसके मधुवन में कभी दावानल
तो कभी पूतना-सी
बहक उठती हैं हवाएँ

मत छोड़ो अकेला
इस ग्वाले को
सतपुड़ा के इस नाले को।

नाला-पाँच

सुबह-सुबह भाप छोड़ता
दोपहर तक माथे पर
तटछैंया का फटा गमछा लपेटे
किरनों की वंशी में प्रेम चारा लगाये
मछलियाँ पकड़ने का खेल खेलता नाला
और शाम होते होते
भफ्कारों में डूबकर
जंगल की शिराओं में प्रवाहित
कच्ची का सुरूर हो जाता

फिर चट्टानों के तकिए पर सिर रखे
खर्राटों की अन्तर्लय पर
फेंसकुर की चादर ताने सो जाता
जिसकी रखवाली करता सन्नाटा
रात भर बोलता रहता हुर्र हुर्र हु ..र्र ..।

नाला-छः

सतपटी की श्वेत जटाओं से
रेशा-रेशा धागा लिए
चल रहा चट्टानों का हथकरघा

और धार-धार तानों-बानों से
बुनी जा रही पानी की चादर
जिसे कन्धों पर डाले

बिना किसी विश्राम की चाहत लिए
अलमस्त कबीर-सा अलख जगाता
बहे जा रहा धनपाड़े का नाला।

नाला-सात

नाले में जो बह रहा
वह पहाड़ ही तो है
करुणा से पिघलता

कभी का सूख गया होता
जीवन का नीर
कगारों की बाँहें यदि
कदम-कदम नहीं थामती उसे

या कि फूलों तितलियों वनपाँखियों ने
नहीं झुलाये होते बिजने
या कि नहीं दी होती
पेड़ों-झाड़ियों ने छाँह भर सहानुभूति
या कि नहीं पोंछा होता
हवाओं ने वदन का पसीना

अपनी हाड़-हाड़ देही के रहते
नाले संग जिन्दा है
इसीलिए पहाड़।

नाला-आठ

लोक गीतों की तरह
प्रकट होती पगडण्डियाँ
कि जिन्हें रचती हैं
अनाम पगथलियाँ

लोक धुनों की तरह
अवतरित होते झरने
कि जिन्हें रचती हैं
घाटियों की उमंगें

लोक वाद्यों पर पड़ती थाप की तरह
झंकृत होते नाले
कि जिन्हें
अरण्य ध्वनियाँ रचती हैं

लोक कथाओं की तरह
संगत देने फूट पड़तीं नदियाँ
कि जिन्हें
घाट-घाट संस्कृतियाँ रचती हैं

छलक उठती लोक रंगों की तरह झीलें
कि जिनके दरपन में
जगमगाता रहता वन
अपनी आदिम श्रुतियों के साथ।

नाला-नौ

अभी अभी नाले में हिरनियाँ
खुरों से आँखें खुजलाती
रोयाँ रोयाँ चाटती रहीं देह
और भेड़ियों की आहट पाते ही
छलाँगती हुई समा गई पहाड़ में
प्रवाहित है धनपाड़े में
जीवन राग की तरह
सतपुड़ा के तप का मोतिया रंग
जो रेत कंकर तक को तृप्त करता

जड़ों से होकर छुग्गन तक
पेड़-पेड़ हरियाता
फूल-फल-पत्ती की नसों में
लहरा रहा है

चिलकती धूप में
सूरज की किरनों पर सवार
आकाश मार्ग से दिनभर
वन संपदा की चौकसी करता नाला
और शाम होते ही
चाँद-तारों की रश्मि डोर से उतर
टिमकियों की लोक थापों पर आलापें भर
नाचता रहता भोर तक।

नाला-दस

वो देखो!
दबे पांव आखेट को
निकला है नाला

अब किसी न किसी
उत्सव की
तैयारी करने ही वाला है पगला!!

नाला-ग्यारह

नाले का जनेऊ पहने पहाड़
अँधेरे में नहाने की
अनुभूति का स्फुरण लिए
जब माथे पर पगडण्डी की चुटिया बाँधे
सुनसान रात में फेंफर तले
तांत्रिक चबूतरे पर जा बैठता

नाला-चौदह

रहटगाँव के हाट की गुड़पट्टी में
जितना मीठा स्वाद
उतनी ही बनिए की
मोल भाव वाली जुबान में कडुवाहट

फिर भी हाट से
गुड़पट्टी लेकर लौटता डोंगर
और नाले में
अपनी सँझिया के साथ
प्यार से खाता है

और फिर दोनों एक दूजे को
साँसों की अँजुरियों से छककर
पानी पिलाते चल पड़ते
मीठी-मीठी डकारें लेते
फुर्ती से अपनी अपनी गैल।

नाला-पन्द्रह

किनारों की मिट्टी से सिर
और शिलाओं पर रीठों से
फुचुक फुचुक कपड़े धोती आदिवासी स्त्रियाँ
पत्थर की छिपटियों से
रगड़-रगड़ मैल निकालती
जनम से नहा रही हैं

जाने कबसे घिसती आ रहीं एड़ियाँ

जब तक जिन्दा है नाला
तब तक तार तार लुँगड़ों से लिपटी
औरतों की लाज का सहारा रहेगा

ठोस है सतपुड़ा

बड़ा रंगीला है सतपुड़ा
जबकि किसी रँगरेज के पास
लिबास रँगाने नहीं गया
न निष्फल कर्म की अभ्यर्थना में
लीन हुआ कभी
ना ही अपने किसी पत्थर तक को
बनने दिया बुत
और पुरुषार्थी इतना
कि संकट मोचन के लिए
धूनी रमाने का नपुंसक स्वाँग तो
रचा ही नहीं कभी!

बाहर भीतर इतना ठोस
कि हर हाल
निष्क्रिय पहेलियों के जाल में
नहीं उलझने देता
झोंपड़ियों के संकल्प!

माँ की याद

जब भी
पास पड़ोस मोहल्ले में
धोए जाते कपड़े
माँजे जाते पात्र
लीपे जाते मकान
दी जातीं-
'दूधो नहाओ पूतो फलो' की दुआएँ
मुझे माँ की याद आती

कि तभी
घर से आँगन तक
बह पड़ती नदी
जिसमें नहाकर मिट जाती
जन्म जन्मांतर की थकान

गाँव से जाने पर

गाँव से लौटा तो
गंवड़े तक जस का तस
फुदकता-फाँदता चला आया
मेरे साथ मेरा गांव
और सड़क पर आते ही
तितली-सा फुदकने लगा

टेशन आकर मुड़कर देखा तो
प्लेटफार्म की छत पर बैठा
रेल की पटरियों की ओर टोर
टुकुर टुकुर देख रहा था मेरा गांव।

रोशनी

भादों की एक शाम
तुम्हारे घर पहुँचा ही था
कि तभी शहर भर की
बिजली गुल हो गई थी

तब जुगनुओं का
जो झक झक अभियान देखा था
तुम्हारे चमन में
वो एक संस्कार की तरह रच गया है
मेरे मन में

प्रकाश के वे असंख्य अक्षत तुम्हारी छत पर
हीर-कणों जैसे झर रहे थे झर झर

अब कभी भी
जहाँ कहीं बिजली गुल होती है
मेरी स्मृति में अँधेरे के विरुद्ध
वही रोशनी
झल मल होती है।

आदमी को

इस बार तुम्हारे बरामदे में बैठते ही
दिवाल पर टँगी पेण्टिंग से निकल
डमरू लटकाये सारे के सारे त्रिशूल
मेरे आसपास छा गये
लोक धुन पर थिरक उठा
सागौन की लकड़ी पर खुदा
टिमकी बजाता आदिवासी जोड़ा

फ्रेम में जड़े अजगर
बरगद की जटाओं से उतर फर्श पर नाचने लगे

इतिहास चेतना से झंकृत हो उठीं
कोने में सजी पाषाण प्रतिमाएँ
जिनकी आसक्त मुद्राएँ
एक ही अर्थ बोलती रहीं
कि आदमी को आदमी से मिलना ही चाहिए
कि तभी तुम आ गये
और हम एक दूजे को पा गये।

कि जिसकी सिद्धोदयी आभा से अभय हो
आगे और बनता जा रहा
नर्मदा पर सिद्ध क्षेत्र कविता का
शिवा का - ज्ञान का- करुणा का
समता का - विद्याधरन् सागर के पर्याय का!!

तो उसमें मुझे तेरा कंकाल दिखाई देता है
इस वक्त मैं प्रारब्ध की हथेलियों से
अपनी आँखें नहीं मींचता
बल्कि अपने साथ नाव पर सवार लोगों पर
अँजुरी भर भर पानी सींचता
जिससे उनके चेहरों पर आने लगती हरियाली नजर
और वे एक साथ बोल उठते – नर्मदे हर-हर-हर

निमाड़ आज तूने नर के मद को हरने का
मन उगाया है
भूखा पेट जो बोलता है सच होता है
गर चुप भी रहे तो उसका काफी अर्थ होता है
इस तरह तू अपने पेट में
पेट के लिए कोई संकल्प बोता है

माँ कहती है कि -

फटी साड़ी सिलते माँ कहती है-
बेटा, तेरे पिता ने शादी के वक्त भी धोती, कुर्ता, टोपी पहनी थी
यही पहने बच्चों को पाठशालाओं में पढ़ाते रहे गांव गांव
पांवों की पहन जरूर बदल जाया करती उनकी
वे हर दशहरे पर नए जूते या चप्पलें पहन लिया करते
जिन्हें अगली विजयादशमी तक सम्हालकर चलाते
तेरे पिता दो जोड़ी धोती कुर्ता टोपी
और एक जोड़ी जूता या चप्पल पहन
पूरा साल निकालते रहे
इस बीच स्कूल इन्सपेक्टर आता
या कहीं समारोह में जाना होता, तो भी
वहीं हाथों धुली सफेद झक पोशाक होती उनकी
इस पोशाक में वे-
मुनीमजी और गुरुजी एक साथ लगते थे रे
इसी पोशाक को पहने वे उन्नीस सौ छत्तीस के आसपास
शिक्षकों द्वारा हाथ से कते सूत के कपड़े पहनने के अपराध में
स्वदेशियों के अनुयायी मानकर
अंग्रेजी सरकार द्वारा नागपुर जेल भेजे गये थे।

माँ कहती है-

कि जब वे वहाँ से घर लौटे
तो लगा था मानों वे पाठशाला से लौटे हों।

माँ कहती है-
कि तभी तू पैदा हुआ था प्रेमशंकर
और उसी साल बावड़िया में रामलीला हुई थी
जिसमें तेरे पिता ने दशरथ का पाठ किया था
जितनी देर दशरथ का अभिनय किया
उतनी देर ही बदली उनने पोशाक
तब उनने-
अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहना था
लगाया था माथे पर मुकुट
गले में काँच के मोतियों की माला पहनी थी रे
और राम जन्म की लीला में
उस दिन तुझे
राम बनाया था मेरे मुन्ना!

माँ कहती है-
तब झंगा टोपा पहने
ठुड्डी पर डिठौना लगाये तू
तुलसी बाबा के "इष्टदेव मम बालक रामू" जैसा लग रहा था रे
जैसे ही रामजन्म की बिरियाँ-
"भये प्रकट कृपाला" की आरती हुई
वैसे ही तेरे पिता ने
तुझे गोद में लेकर इतना चूमा था
कि उस भाव लोक में सराबोर पूरा दर्शक समाज
दशरथ मय हो गया था
और तू भी अँगूठा चूसते हुए
किलक किलक हँस रहा था।

माँ कहती है-
बेटा आज भी
उस दृश्य को
याद करते हुए लोग
क्षण भर को
समाधि में
डूब जाया करते हैं।

माँ कहती है-
वात्सल्य का छककर पान करते हुए
दर्शकों ने उस वक्त
दशरथ और राम की जय जयकार के साथ
भारत माता की डटकर जय जयकार की थी
और धरती आसमान को
जय जयकार की समवेत ध्वनियों से पाट दिया था
और हरेक ने अपने अंदर भरपूर आजादी का अहसास किया था।

चौके में काम करते माँ कहती है-
तब तेरे पिता शिवपुर के बेसिक स्कूल में शिक्षक थे
जहाँ भिलाड़िया से नर्मदा स्नान कर
सूर्योदय के साथ ही काम में लग जाया करते थे
वे उपवास के अलावा दो वक्त ही भोजन करते थे
और छरहरे बदन को सदैव फुर्तीला रखते थे
उन्हें भोजन करते हुए देखना
एक रोमांचक प्रसंग होता था हम सबके लिए
जहाँ अन्न का प्राण होना साकार हो उठता था
उस वक्त वे बातें नहीं करते थे
तब उनका रोम रोम
दाल-रोटी के स्वाद से संवादरत रहता था
भजिए वाली कढ़ी, चटनी, रायता तो इस मजे से खाते थे

मानों स्वर्ग के छप्पन व्यंजन मिल गये
और अंत में उनकी छोड़ी हुई जूठी थाली
मँजी हुई थाली से ज्यादा साफ होती थी
जिसमें खाने के लिए तुम भाई बहन
रोज रोज झगड़ते थे।

पाठशाला के बाद भी तेरे पिता दहलान में
जलती ढिबरी रखे बच्चों को पढ़ाया करते थे
और शिष्यों से कोई भी गुरु दक्षिण नहीं लेते थे

कंदील का काँच पोंछते माँ कहती है-
कि उनने भी ढिबरी के उजाले में पिता से
रामचरित मानस - सुखसागर पढ़ना सीखा था
जो आज भी जारी है
पिता को मानस कण्ठस्थ थी
और ब्रह्ममुहूर्त से उठकर मास परायण पूरा कर
जाने कितने कितने आसन लगाया करते थे
प्राणायाम में तो वे चाहे जितनी देर रह लेते थे।

पिता किराये के मकान में भी
दो चार गाय हमेशा पालते रहे
हमें अच्छी तरह याद है कि हम भाई बहनों को
गायें लगाते लगाते आधा दूध
बारी बारी से पिला देते थे

गायों की देखभाल खुद करते थे
खुद गोबर उठाते थे - सकेलते थे गौमूत्र
और हरी घास का डटवाँ गट्ठर खुद काटकर लाते थे।

वे नदी में नदी भर नहाते थे
नहलाते थे हमें भी उसी तरह
और खेल खेल में कोई दोहा, श्लोक या पद

याद करवा दिया करते थे
सिखा दिया करते थे एकाध आसन।

पिता महीन से महीन व मोटा से मोटा
सूत खुद कातते थे और हमसे भी
गीतों की टेर पर तकली चरखा चलवाते थे
और घुण्डियों के ढेर के ढेर लगा लिया करते थे
जिन्हें खटके पर - बेखटके चढ़ाकर-
खादी, दरी, डोरिया, निवाड़ बुन लेते थे।

खटिया बिछाते माँ कहती है-
कि उनके और पिता के हाथों बुनी निवाड़
एकाध खटिया पर अब भी लगी है
जिस पर वे स्मृतियों की तरह आहिस्ता सोती हैं
और जब कभी वह टूट जाती
तो वे दिन भर जोड़ा करती हैं उसे

दीवाली की सफाई में
चीजें सुखाते हुए अब भी
पिता के हाथें बुनी चीजें हुआ करतीं
जो धूप खाकर-
उनकी मौजूदगी की ऊष्मा देने लगती
और अगली दीवाली तक उनकी सात्विक गन्ध
घर की मगरी तक समाई रहती है।

सूपा से नाज फटकते माँ कहती है-
कि बौनी-बखरनी की छुट्टियों में हम
दादी के पास जाते थे अपने गाँव
जहाँ रात रातभर सुनते थे कहानियाँ उनसे
और पिता बोनी-बखरनी-कटनी के काम में जुट जाते थे
करवाते थे हमसे भी खेत में बुआई, खलिहान में लिपाई

उड़ावनी पर दावन करते
भर भर डले देते थे पिता को तिपाये पर
और दुपहरी भर
जामुन-आम-गूलर पर चढ़े
अण्डा डाबरी खेला करते
बोला करते पक्षियों की बोलियाँ
भरते रहते फेफड़ों में धरती आसमान की खुशबू
और कभी कभी सतपुड़ा की तलहटियों तक हिरनी से कूदते-फाँदते
तेंदू, मकोई, अचार भर लाया करते गमछों में।

कपड़े धोते माँ कहती है-
शिवपुर से चतरखेड़ा तबादला होते ही तेरे पिता ने
शाला भवन को ऐसा सजा दिया था
मानों वहाँ चौबीसों घण्टे कोई मंगल उत्सव चलता हो
बच्चों के साथ एक कुआ भी खोदा था उनने
जिसके मीठे पानी से गांव भर की दाल पकती थी
जो कि पूर दिया गया है आजकल
और गांव खारे पानी की चपेट में आ गया है
और शालाभवन के पलस्तर चाहे जब उखड़ने लगे हैं
जो कि तरह तरह की डरावनी आकृतियाँ बना जाते हैं
रोज रोज उखड़ती फर्शियों और उखड़ते पलस्तरों पर
विद्रूप आकृतियाँ बनती जा रही हैं आजकल।

आँगन बुहारते माँ कहती है-
चतरखेड़ा से ही की थी बहन की शादी
और विदा के वक्त तेरे बापू फफक फफक रोये थे
और धर दी थी टोपी समधी के चरणो में यह कहते हुए-
बेटी अब आपके सुपुर्द है
तब दोनों आलिंगन में बँधे आँसुओं से नहाते रहे थे।

माँ कहती है-

कि उनने पहली बार पिता को रोते और पहली बार
किसी के पांवों टोपी धरते देखा था
पहली बार बेटी को छाती से-
इस तरह लगाये देखा था मानों-
''लीन्ह राय उर लाइ जानकी, मिटी महामरजाद ज्ञान की''
पहली बार उन्हें पिता के विदेह रूप का भान हुआ था।

माँ कहती है-
कि सेवामुक्त होते वक्त
फण्ड के दो हजार रुपये दिये थे जनपद ने
जिनसे खरीदा था पिता ने सिवनी मालवा में कच्चा मकान
जहाँ आज भी रहती है माँ।

घर लीपते माँ कहती है-
सिवनी आते ही तेरे पिता ने अपने शिष्य के यहाँ
मुनीमी का काम सम्हाल लिया था
और शिष्य भी उन्हें पिता ही मानता रहा अंत तक।

अब तक हम पाँचों भाई बहन बड़े हो गये थे
और चाहने लगे थे कि पिता आराम करें
हमारे विचारों को ताड़ते हुए वे विफर पड़ते थे
हम बड़े होकर भी उनसे डरते थे।

एक दिन सबको पास बुलाकर उनने कहा था-
तुम, मुझसे आराम करने की जिद मत करना
आराम करने से मैं जल्दी मर जाऊँगा
जबकि देखना चाहता हूँ तुम्हें फूलता फलता
चाहता हूँ जिन्दा रहना-
सो मुझे काम करने से मत रोको मेरे बच्चो-
और तुम भी अपने कामों में लगे रहो बेटो!

गेहूँ नुकाते माँ कहती है-

अपने अंतिम दिनों में
तेरे पिता तेरे नाम की रटना लगाये रहे
और बाप-दादों के गांव जमानी बैंगनिया को याद करते रहे
याद करते रहे तोरनियावाले मामा को बार बार
बार बार काका-भुआ को याद करते रहे
और जिस दिन तार पाते ही तू
उनके पास पहुँचा था-याद है न! -
वे तेरी ही प्रतीक्षा में आधी रात में भी
दरवाजे पर ही बैठे थे।

माँ कहती है-
उन दिनों जाने क्या हो गया था तेरे पिता को
कि दिन दिन भर गुपचुप रहते थे
आँखें जरूर बोलती थीं उनकी।

जब मैं घर पहुँचा तो ढेर ढेर बतियाते रहे पिता
फिर आँखों से बहुत कुछ कहते रहे
और धीरे-धीरे प्रशान्त होते गये।

मेरी जाँघ पर सिर रखे
अंतिम लीला पूरी हुई थी उनकी
और शान्त मुद्रा में आत्मान्तरण करते हुए उनने
शान्ति का सटीक अर्थ समझा दिया था हमें।

अब वे नहीं रहे
उनकी देहमात्र थी हमारे बीच
उड़ चुका था सुआ पिंजरे से।

पिता की मृत देह को नहला धुला
सजधज के साथ श्मशान लेकर गये थे हम
और जब उनकी अंतिम क्रिया करके लौटे

तो उनकी टोपी जस की तस खूँटी पर टँगी थी
टँगे थे अलगनी पर कुर्ते-धोती

कभी कभी भाई
पिता की धोती या कुर्ता पहन लेता है
कभी कभी टोपी भी
टोपी पहने वह पिता जैसा ही लगता है
ऐसे में वह
यदि माँ की भी कोई शिकायत करता
तो यह नहीं लगता कि भाई बोल रहा है।
धोती कुर्ता टोपी पहना हर बुजुर्ग
मुझे पिता जैसा ही लगता है

दिनों बाद पिता की एक फोटो मिली
जिसे बड़ी कराके जड़वा लिया है फ्रेम में
पिता की फोटो घर में
उनके होने का अहसास कराती है
और पिता - वही कुर्ता धोती टोपी पहने
सुख दुख में हर वक्त
हमारे साथ हो लिया करते हैं।

हम आज भी डरते हैं
कि उनकी मर्जी के खिलाफ कुछ न कर बैठें

धनिया सोरते माँ कहती है-
कि उनके सपनों में भी
इसी उनिहार में आते रहते हैं पिता।।

पृथ्वी पुत्रों के साथ

जिस दिन बहता दरिया होगा धर्म-
पृथ्वी पुत्रों के साथ धँसकर नहाऊँगा उसमें!!

रोपूँगा घाट घाट प्यार के बिरवे
डालूँगा डाल डाल किलकारियों के झूले
जहाँ भर भर पैंग आसमान तक झूलेंगे हम!

किनारों के ओर छोर होगा-
इंसानियत की खुशबू का आठों पहर रचाव!
सीढ़ी सीढ़ी मिलन तीर्थ होगी
कछार कछार साकार होंगे प्रणय-स्वप्न
हरित अंकुरण से समृद्ध होंगे टापू
और उन्मुक्त विचरेंगे सारस-सुरखाव!!

नदी तो नदी ये धरती आकाश
बल्कि पाताल भी होंगे सभी के
होंगे अटूट रिश्ते जल थल नभ पर
विहार करने वाले जीव-जीवाश्म में!
जिस दिन बहता दरिया होगा धर्म
पृथ्वी पुत्रो के साथ धँसकर नहाऊँगा उसमें!!

किसान की चिन्ता

चिन्ता है बैलों के चारे की
भैंस को खली की चिन्ता है मुझे

पाड़ा-पाड़ियों को पालने की चिन्ता है
चिन्ता है झवरा के अयाल की

मेड़ की दूधई कौंधी काटने की चिन्ता है
चिन्ता है बीड़ के हरे घास की

पकी फसल के बीच अनाज से ज्यादा
भूसे की चिन्ता है

अपनी भूख से ज्यादा
गायों के कौल की चिन्ता है

मुझे सयानी होती बेटी से ज्यादा चिन्ता है
केड़ा केड़ियों के सानी की

चिन्ता है अपनी प्यास से ज्यादा
मवेशियों के पानी की

चिन्ता है अपनापन खोने की
मुझे चिन्ता है अपना होने की!!

कविता के अंदर उतरने की कोशिश में

जाने किन किन देशों से आती टिड्डियाँ
खेत के खेत चाट जातीं
लाख कोशिश के बावजूद नहीं कर पाता
अपने खेतों के मौलिक अधिकार की रक्षा

जाने किन किन साहूकारों के गुरगे
खलिहान लूट लेते
लाख कोशिश के बावजूद नहीं कर पाता
अपनी फसलों के नागरिक अधिकार की रक्षा

मुझे पता ही नहीं चला
कि आँगन के नीम पर
कब कर लिया पड़ोसी ने कब्जा
और मैं सुबह सुबह दातौन को तरसता रहा

मुझे पता ही नहीं चला
कि कैसे कैसे भ्रष्ट होती रही भाषा
किस तरह मिटाई जाती रहीं संस्कृतियाँ
और मैं टी वी. सेट पर चैनलें बदलता रहा

मुझे पता ही नहीं चला
कि कब कब चुपके चुपके बनते रहे बम

कब कब चोरी चोरी फेंका जाता रहा सागर में आणविक कचरा
और मैं खुले मैदान में भरता रहा फेंफड़ों में हवा
लेकिन मुझे पता है कि
कब कब कहाँ कहाँ रागहीन
होता रहा इंसान और कैसे कैसे
टुकड़ा टुकड़ा बिखरता रहा समाज
इसीलिए मैं आदमी आदमी में
लयात्मक रिश्तों की तलाश में
कविता के अन्दर-
उतरने की कोशिश में हूँ फिलहाल!!

कई तरह के डर हैं मेरे साथ

कई तरह के डर हैं मेरे साथ
एक स्याह है जो उजाले में भी
खूनी पंजे लिए पीछे खड़ा रहता
और मुझसे चाहे जब गें गें करवाता

एक हरा डर है
जो खेतों में फसल के साथ
खरपतवार की तरह फैलता
बीसों गुने अनाज का भरोसा चौपट कर
खलिहानों में भूख और भूसा भर देता

एक है भूरा डर
जो खड़ी खेती-किसानी पर ओले-सा बरसता
लगान में छूट के सरकारी वायदों में पलता
और मुआवजे की धूप-छाँह में
हल-बख्खर तक गिरवी रख लेता

एक डर है बिल्कुल पीतवर्णी
जो घर-आँगन में पक्षाघात बिछाकर
सम्बन्धों को लुँज पुँज करता
तीमारदारी के आर्थिक स्रोत तक सुखा डालता

नीला डर भी है
जो तरह तरह के सब्ज-लोक दिखाता
करुणा से आँसू तक ठगकर
मरुथल के बीच निर्वस्त्र खड़ा कर देता

सतरंगिया डर भी है मेरे साथ
जो सम्मोहक सपने दिखाकर
अपने होने का अहसास छीन लेता है

और भी कई रंग के डर हैं मेरे साथ
लेकिन मैं सफेद से बहुत खौफ खाता हूँ
जिसके पैने नाखून और नुकीले दाँत
अदृश्य होते हुए भी
संसद से पंचायत तक आर पार धँसे हैं
फँसे हैं जिनमें जनमत के इरादों के मासूम रेशे

मैं इन डरों से उतनी दूर तक ही सुरक्षित हूँ
जितनी कि, जलाशय में, बड़ी से सुरक्षित छोटी मछली
जितनी कि, बत्तीसी के बीच सुरक्षित जीभ
जितनी कि, कसाई से खैर मनाती बकरे की माँ
जितनी कि, बाज के झपट्टे से बचती गौरेयों की उड़ान
जितनी कि, तेंदुओं से सुरक्षित हिरनी की गुठान

कई तरह के डर हैं मेरे साथ
फिर भी जिन्दा हूँ मैं।

प्रणयोदय

तुम भोर-सी आई
तो तुम्हारे भाल पर
सूरज-सा दमक उठा मैं

गमक उठे आकाश तक हम
चमक उठी धरती के ओर छोर
दीप्ति हमारी

माथे पर रश्मि कलश लिए
झरनों की जल तरंगों पर
मंगल गीत गा उठीं नदियाँ

डगर डगर सरसराता
पात पात बुहारता
हौले हौले चल पड़ा पवन

और पक्षियों के समवेत पाठ के साथ
अनगिनत पुष्प हार लिए
स्वागत में खड़े हो गये कछार।

हथेलियां

नहीं बनवाई कभी
पेड़ों ने जन्मकुण्डली अपनी
ना पत्तों ने दिखलाई
भाग्य रेखाएं किसी को

धूल भरी स्याह आँधियाँ
पोर पोर उजाड़ जातीं उन्हें
फिर भी धीरे-धीरे
हरे हो उठते पेड़

फिर फिर गूँज उठतीं
फूलों-फलों की
सुरभित किलकारियाँ दूर तक

इतिहास में आज तक
किसी भी ज्योतिषाचार्य के सामने
कभी नहीं फैलीं
स्वयं पर आश्वस्त
श्रम करती हथेलियाँ।

भूमि पूजन करते हुए

अपना मकान बनवाने के लिए
भूमिपूजन करते हुए
मैं अकेला नहीं हूँ

मेरे साथ हैं
मकान मालिक की झिड़कियाँ
दीवाल पर
कील तक नहीं ठोंकने की हिदायतें

किराये के मकान की ऊब
सीलन की गन्ध भी है मेरे साथ

मेरे साथ फूटे नल पर बढ़ते टैक्स की चिन्ता
बिजली के कटे तारों की
दहशत भी है

किताबों पर चढ़े
धूल के कफन भी हैं मेरे साथ
सपन भी हैं
पत्नी की दवा लाने-सम्हालने के
मेरे साथ आँगन नहीं होने का अभाव

तुलसी चौरा की कमी है
नमी है रोशनी और हवा के न मिलने की

इन सबके साथ भूमिपूजन करते हुए
पड़ोस की चाँदनी की थोड़ी-सी
छुअन भी है मेरे साथ
किराया बढ़ाते वक्त
मकान मालकिन के चेहरे पर रीझती मुस्कान भी
और दोस्तों की ढेर सारी दुआएँ हैं

कामनाएँ हैं नए घर में
अतिथियों के पधारने की

भूमि पूजन करते हुए
मैं अकेला नहीं हूँ
मेरे साथ अब कुछ ही दिनों बाद
किराये के मकान से
मुक्त होने के इरादे हैं
इरादे हैं अपना मकान होने के
अपनी नींद से उठने के
अपनी नींद सोने के!!

जो हमलावर कहेंगे

बहुत ही मानवीय
दिखने लगे हैं हमलावर आजकल

हो सकता है
वे जब बस्ती में आयें
तब पति-पत्नी, पुरा-पड़ोसी
आपस में झगड़ रहे हों
तभी वे सुलह करवा दे उनमें

हो सकता है
रास्ते में उन्हें कुछ
खुद्दार अक्खड़ मिल जाएँ
तो वे अपने संस्थानों में
अच्छे पदों पर नियुक्त कर लें उन्हें

हो सकता है-
आप अपने जूते की
गड़ती कील की वजह
सी सी कर रहे हों
तो वे आपकी पगथलियों पर
सहानुभूमि का मलहम लगाने लगें

हो सकता है
सभी तरफ
चीजों के दाम
आसमान छू रहे हों
तो वे सस्ता बाजार खोल दें आपके लिए

हो सकता है
भूखे-प्यासों को देखते ही
करुणा में डूबकर
सदावरत शुरु कर दें उनके लिए

हो सकता है
आप स्वावलम्बन की
अलख जगाना चाहें
तो वे पक्के स्वदेशी लगने लगें आपको

हो सकता है
अपने सांस्कृतिक अभ्युदय का
आपको थोड़ा-सा विचार ही आये
तो वे अपने ढंग का बड़ा-सा
रंग मंच ही बनवा दें आपके लिए

हो सकता है
आप अपने खेत-मकान की
मरम्मत करवाना चाहें
तो वे ऊँची कीमत देकर
खरीद लें उनको

हो सकता है
आप अपने किसी भी मर्ज का
कोई निश्चित उपचार कराना चाहें
तो उसे वे पहले ही करा दें आपके लिए

इस 'हो सकता' के चलते
आप उनकी गिरफ्त में
पूरे के पूरे आ चुके होंगे
अब आप वही करेंगे
जो हमलावर कहेंगे!!

इन दिनों

कविता लिखना
बहुत ही कठिन हो गया है इन दिनों
इन दिनों कविता में जीना तो
और भी कठिन है

जब छीने जा रहे हों शब्दों के अर्थ
गिरफ्तार की जा रही हों भावनाएँ
सरे आम कत्ल हो रही हों कल्पनाएं
तब प्यार को सहेजे रखना
बहुत ही कठिन हो गया है इन दिनों
इन दिनों प्यार में जीना तो
और भी कठिन है

जब विश्व सुन्दरियों की आंगिक चेष्टाओं से
व्यापारिक संधियाँ तय होती हों
तय होती हों नए समीकरणों के जरिए
सांस्कृतिक परिणितियाँ
तब सौंदर्य को पीना
बहुत ही कठिन हो गया है इन दिनो
इन दिनों सौंदर्य में जीना तो
और भी कठिन है

बिना पूर्व-प्रश्न के जब
उत्तर-आधुनिकता मुखर होने लगे
और पूँजी के रंग रोगन से
विश्व का नया नक्शा बनाया जाने लगे
तब मानव अधिकार की बातें करना
बहुत ही कठिन हो गया है इन दिनों
इन दिनों मानव अधिकार में जीना तो
और भी कठिन है

इन दिनों कविता न लिखकर
कविता को बचाये रखना
जरूरी है
जरूरी है, आदमी की उम्मीदों को
बचाये रखना, - इन दिनों!!

इतने क़रीब

इस बार दिसम्बर के
मावठे में बादलों से झाँकती
नए साल की अगुवाई करती-सी
तुम्हारी याद
सूरज की कुनकुनी धूप जैसी आकर
दे गई किरणों का
नरम नरम दुशाला मुझे

ओढ़ते ही जिसे
भर गई ठिठुरती देह में
तुम्हारी गन्ध की ऊष्मा

समा गई रोम-रोम में
तुम्हारे होने की प्रतीति

तब तुम्हारी साँसों को
अपनी साँसों के इतने करीब पाया
कि जिनकी ताप से
तुम्हारे बिन
पत्थर-से जमे ये दिन
पिघल कर धार-धार बहने लगे।

बूचड़खाने के सामने

चकला बेलन नहीं हुए
तो भी हथेलियों से पाथकर बना लेंगे रोटियाँ
लेकिन तवा तो फिर भी चाहिए

वह भी नहीं रहा तो
सेंक लेंगे बाटियाँ
मगर उपले तो फिर भी चाहिए

वे भी नहीं रहे तो ?
तो सूखी कण्डियाँ तो फिर भी चाहिए
मगर गौशालाएँ तो कसाई ले भागे

और बूचड़खाने के सामने बँधी मवेशियाँ
कत्ल के भय से थरथराती-
गोबर करना ही भूल गई!!

बेटी की याद

खिड़की या दरवाजे से
बारिश का नज़ारा देखते जब कभी
चेहरे तक आ जातीं बौछारें
मुझे तेजी से बेटी की याद आने लगती
जो अमरावती के आँगन से
हरदा तक आने के खयालों में
रानू को कठघोड़े पर चढ़ाये
नाना के घर चलने का
खेल खिला रही होगी

और वह बादलों के
उड़न खटोले पर बैठकर
पकी जामुन के लिए
नानी के पास आने की जिद कर रहा होगा।

कुछ न कुछ बोलो

कुछ न कुछ बोलो
घुग्गू बने मत बैठो

वैसे यह सच है
कि मुर्गे की बाँग से ही सबेरा नहीं होता
न कोयल की कूक से बसंत आता है
लेकिन मुर्गा और कोयल
ठीक ठीक वक्त पर ठीक ठीक बोलते हैं

तुम्हें सुबह और बसंत नज़र नहीं आते
तो रात और शीत-गर्मी की ही बात करो

टिटहरी और पपीहरा के स्वरों में
जो टीस, जो दर्द, जो कशिश है
वह, बेरहम मौसम को भी नम कर देता है

जमाना तुम्हारे इशारे को आतुर है
और तुम घुत्रमथान बैठे हो

भाई मेरे! कुछ न कुछ बोलो
वाणी का मंगल द्वार खोलो!!

धन्धे की तरह

भैया साब साइकिल पर कुप्पियाँ लादे
शहर में दूध बेचते रहे
और हर बार बन्दियां बदलते रहे

भैया साब को रास्ते में नदी जो मिलती
जिसे वे धन्धे की तरह इस्तेमाल करते

देखते देखते भैया साब की देहाती धज बदल गई
अब वे मोटर साइकिल से शहर आने लगे
और दूध की जगह मछलियाँ बेचने लगे

भैया साब को रास्ते में नदी जो मिलती
जिसे वे धन्धे की तरह इस्तेमाल करते

भैया साब की मोटर साइकिल भी बदल गई
वे ट्रक से शहर आते और शहर में
उगती इमारतों के जंगल में रेत बेंचते
भैया साब को रास्ते में नदी जो मिलती
जिसे वे धन्धे की तरह इस्तेमाल करते

भैया साब अब शहर में ही बस गये हैं

और नई नई नदियाँ बनाने लगे हैं
जिन्हें वे धन्धे की तरह इस्तेमाल करते हैं

भैया साब क्या नहीं करते
यह सब जानते हैं
लेकिन वे क्या करते हैं
यह कोई नहीं जानता
क्योंकि भैया साब नदियाँ बनाते हैं
जिन्हें वे धन्धों की तरह इस्तेमाल करते हैं

भैया साब की नदियाँ
भैया साब को ही दिखती हैं

पहले पहल गुप्त मंत्रों के साथ
सट्टे की नदी बनाई उनने
और मालामाल हो गये
शहर के दादा परदादा उनके दलाल हो गये
और जब छक गये
तो सुखा दिया उसे
और शराफत का लबादा ओढ़े
ठेके की महानदी बना डाली
जो समुद्र जैसी पछरें उठाती
शहर भर में ज्वार भाटे रचती
भैया साब की तिजोरी में मोती भरने लगी
और देखते देखते वे
शहर के नए धन्नासेठ हो गये

कुछ दिनों से
भैया साब ने नदियाँ बनाना छोड़ दिया है
वे डेल्टा हो गये हैं
जहाँ दमकती इमारत बना ली है

भैया साब का अलग लोक है अब
जहाँ स्वर्णाभा से भरे तलघर पर
सोने के परिन्दे उड़ते हैं
नाचती हैं कनक छन्कारों पर गणिकाएँ
और भैया साब-
स्वर्णजटित कालीनों पर सुख की जूतियाँ पहने
गुलाबी कन्धों के सहारे झूमते चलते हैं
जिनके साथ चलता है अंगरक्षकों का काफिला
चलता है चँवर धारियों का खास दल

भैसा साब की यह
एक अलग नदी है
जिसका स्वर्ग से - इनकी जटाओं पर
सीधा अवतरण हुआ है
जो कि उनकी भोग शैया तक ही बहती है
जिसमें नहाने वाली हरेक देह
कंचनवर्णी हो जाती है

भैया साब के चारों ओर
बिछा दी हैं प्रतिहारियों ने
अपनी अपनी नदियाँ

भैया साब अब नदियाँ नहीं बनाते
तैरते हैं मक्खनबाजों की चिकनी नदी में
खेलते हैं विदूषकों की लहरों से
जब से भैया साब ने गांव की नदी छोड़ी है
वे निरीह टापू हो गये हैं
उनकी हँसी-खुशी, सुख-दुख, साँस-उसाँस, आम-खास, बहुरुपिए रचते हैं
रचते हैं मालिकाना हक के साथ चाटुकार
उनकी दिनचर्या

वक़्त

यह बगीचे को नहलाने का वक़्त है
वक़्त है-
भीगे परिधान में लजाती सद्यस्नात लताओं का

पंखों में *आकाश भरने का वक़्त है चिड़ियों का*
वक़्त है तितलियों के फुदकने का
माटी के महकने का वक्त है ये
वक़्त है घाटी के चप्पा चप्पा चहकने का

पेड़ पौधों के खिले चेहरों पर
बौछारें उछालने का वक़्त है
वक़्त यह घास पर नंगे पांव घूमने का है
वक़्त यह माली की हथेलियाँ चूमने का है

यह जलाशयों से उठती सूर्यमुखी भाप से
जलतरंग सुनने का वक़्त है
वक़्त है बूँदों की थाप पर मेघ मल्हार का
वक्त है वनस्पतियों के सम्हाल-सिंगार का

यह चेनुओं-चींटियों को चुगाने का वक़्त है
वीरबहूटियों को संताप से उबारने का वक़्त है

वक़्त है फूल-पत्ती के बचाव का
वक़्त है हरियाली के रचाव का

वक़्त यह धार धार पानी सींचने का है
वक़्त यह सृजन-गंध उलीचने का है
वक़्त है...यह वक़्त है...!!

यही बोती है

बहुत छोटी कविता
मैं हो सकती है
या तू
या वह

लेकिन बहुत बड़ी कविता
हम होती है
और हर हाल में
यही बोती है।

परेड ग्राउण्ड पर

देश! सावधान!!
कुछ भी हरकत नई (नहीं) करेगा
कुछ भी सोचेगा समझेगा नई
भाई चारे की नई दिखायेगा शान!
देश! सावधान!!

कुछ भी देखेगा नई
कुछ भी सूँघेगा नई
कुछ भी सुनेगा नई
सीधे सट्ट रखेगा-
आँख, नाक कान!
देश सावधान!!

दोनों हाथ
खाली मुट्ठी बाँधे
अपनी जाँघों से सटाये रखेगा
ढीलाढस्स नई रयेगा

सामने देख!
काँठी कसे घोड़े-सा, केड़ाकट!
गर्दन ठीक से तान!

देश सावधान!!

परेड! मार्चिंग शुरू करेगा
शुरू कर!
एक दो-एक दो - दायाँ बायाँ
एक दो...
ढिलंगड़ा नइँ रयेगा
एक दो होता चल
कभी अपनी लकीर नहीं छोड़ेगा
लकीर का फकीर बना रयेगा
एक दूसरे से
मेल मिलाप नइँ करेगा
एक दूसरे के पास
कभी जायेगा नई
तीन-चार, पाँच-छै
सात-आठ, नौ-दस
बस बस, बस बस
विश्राम!
सावधान!!

देश! लेन बनाने के लिए
एक दो तीन बोलेगा
देश! तीन तीन की लेन में
तेरह तेरह खड़ा होगा
देश! तीन तेरह हो!
एक दो एक!
सम्यक!!

हड्डियाँ कड़कड़ीबट्ट रखेगा
पेट को पीठ से मिला लेगा

सिर्फ लम्बा लम्बा खड़ा रयेगा-
निरीक्षण के लिए

महामहिम! करोड़ों करोड़ों
तिनकों-सी आबादी वाला
कर्जो फर्जो से लदा
सारे जहाँ से अच्छा ये गुलसिताँ
उसाँसें छोड़ता
परेड ग्राउण्ड पर
पूरी मुस्तैदी से
आपके निरीक्षण को तैयार है जी!!

हाँ, तो देश तैयार रहेगा
देश! तैयार हो!

जब तक महामहिम निरीक्षण करेंगे
कोई मिमियायेगा नईं
अपने को बीमार नई समझेगा
मरघल्ली नई लगेगा
मुँह पे बैठी मक्खियाँ नईं भगायेगा
आँतें बेल्ट से कसे रखेगा!

लो! महामहिम थपर थपर
बुलेट प्रुफ खुली जीप पर
सवार हो गये हैं
रौंदी जाने लगी है जीप के नीचे
करोड़ों खुरदुरे हाथों से बनी कालीनें
और अब महामहिम ले रहे हैं
निरीक्षण के बाद का सेल्यूट
सिर्फ बज रहे हैं
देश की उतारी हुई खाल वाले बूट

और लो! महामहिम सही सलामत
लौट आये हैं सलामी लेकर
देश, कंकाल जैसा सावधान है

देश! विश्राम!!
देश, महामहिम के आगे
अपनी मरी खाल के ढोल पीटेगा
अपना मुर्दा मार्च पास्ट दिखायेगा
देश! सावधान!!
सरकारी ढोल पीट!
मार्च पास्ट दिखा!!
एक दो एक दो-
धूल धक्कड़-एक दो

अब देश मंच के ढाँचे की तरफ जा रहा है
महामहिम सलामी को तैयार हैं
देश! महामहिम को
ढोल सहित मार्च पास्ट की सलामी देगा
देश! सलामी दे!!

देश और महामहिम
आपस में एक दूजे की
आँखों की भाषा
बिना पढ़े-समझे
ले दे रहे हैं मशीनी सेल्यूट
बज रहे हैं बड़े टेक्निक से बूट
गिरवी रखी सोन चिरैया ने
लिया है-
दिल्ली के अभयारण्य का दिल लूट।

अब महामहिम
हमारी विश्वगुरु वाली
महिमा पर बोलेंगे
इतिहास के जंग लगे ताले खोलेंगे
देश! रूक जा
पीछे घूम-दाएँ घूम!
पश्चिम के गेट की तरफ मुँह फेर!
गोल गोल घूम - चकर घिन्नी हो!
डंकल की किट को ढो!!

दाँत नई निपोरेगा
हँसेगा तो बट की ठोकर खायेगा
और विदेशी मेहमान के सामने ही
मलयज शीतलाम उसाँसें छोड़ता हुआ
पूरा बत्तीसी बाहर आ जायेगा
फिर खैरात का दलिया भी
नहीं खा पायेगा

देश!
पीठ पर
इस सदी का
जखीरा लादे
महामहिम के मंच की तरफ बढ़ेगा
देश! बढ़!!

कुर्सियों की तरफ
नई दौड़ेगा
लड़खड़ायेगा नई
लड़खड़ाये भी तो गिरेगा नई
गिर भी जाए तो
चोट सहलायेगा नई

पांव कम घसीटेगा
धूल कम उड़ायेगा
ज्यादा उड़ायेगा तो
महामहिम को लगेगा और उनके
हाथ फेरे की दशा बिगड़ जायेगा
देश! रुक जा!!
देश, महामहिम की
धाँसू तकरीर सुनने
शस्य श्यामला की धूल में ही बैठेगा
देश। बैठ जा!!

महामहिम जी!
बेदम देश
आपको सुनने के लिए
बेजार है
सैक्यूलर तकरीर-
दीजिए श्रीमान!

देश!
जमुहाई नई लेगा
दिल-दिमाग
नई लगायेगा
हक की आवाज
नहीं फेंकेगा
पेट नई पकड़ेगा
संस्कृति की दुहाई सुनेगा
सिर नई धुनेगा
चेहरे पर-
पूरे टेम
समझ का भाव बनायेगा

दंगों-फ़सादों में
ऊँच-नीच में
चाहे जितना
जला झुलसा हो
लेकिन तरक्की का उत्साह
बरोब्बर दिखायेगा।

महामहिम का
बौद्धिक पूरा हो गया है
देश वन्दे मातरम के बाद
ताली बजायेगा
ताली बजा!!

ये क्या बात है
कि एक एक ताली
अलग अलग बज रही है
बेमेल आवाज़ निकल रही है

इस देश को
ऐसा क्या हुआ
कि हाथ हाथ से
मिलते ही फिसल रहा है
और पूरी की पूरी
विरासत लिए ये देश
जड़ मूल से हिल रहा है।

फिर भी
ओ मेरे देश
मेरे पासवाँ
मेरे हिन्दोस्ताँ
मेरे वतन - सावधान!!!

बाबा बोलो!

॥ 1 ॥

बाबा! कहाँ है राम जन्मभूमि
बाबरी मस्जिद कहाँ है ?

जब बहुत दूर रहते ये
तो वहाँ से क्यों आ धमके हमारी गलियों में
अच्छे खासे खेलों का मजा बिगाड़ने!!

॥ 2 ॥

बाबा! यह क्या हो गया हमारी चौपालों को
कि कबिरा को डरे डरे-से गाते हैं
और तनिक से खटके पर ही
ढोल-मँजीरे फेंक भाग आते हैं!!

॥ 3 ॥

बाबा! तुमको रामजी का फोटू अच्छा लगता है न!
आने दो अबकी उर्स
भरने दो भीलट देव की जत्रा
अबकी वहाँ से राम लला की
बढ़िया-सी फोटो लाकर दूँगा तुम्हें

फिर राजधानी वाले ललकिसना परधान जैसे
अंड बंड तो नहीं बकोगे बाबा!!

॥ 4 ॥

बाबा! क्या हो गया तुम्हें आजकल
कि खेत-खलिहान की बातें ही नहीं करते ?

कई दिनों से भूरी भैंस की पीठ पर
हाथ भी नहीं फेरा तुमने
कबरी की बछिया का गिरमा भी नहीं बनाया
पुप्पा को झूला भी नहीं झुलाया भोत जोर से
कनिया भी नहीं उठाया छोटू को चूमकर
कक्का को भी नहीं डाँटा कई दिनों से

ढालिया की टूटी थूनी पर
टेका भी नहीं लगाया आज तक
और जाने किन धरम पोटुओं की ठगाई में आकर
बजाने लगे बेसुरी खड़ताल
जबकि हमारा गाँव अब भी
किसी राम जन्मभूमि से कम नहीं है बाबा!!

॥ 5 ॥

बाबा! बाबा!! अभी पलेवा देकर निपटा है गाँव
और अभी अभी खेत पर टापरी बना
लौटे हैं नरेन्द्र-नीता साथ साथ
दो-चार दिन में बतर भी आ जायेगी

और लोग हैं कि जैसे तैसे बोहनी करके
अपनी अपनी मेड़ों पर मंदिर-मस्जिद का
हौवा खड़ा करने में लगे हैं
लहुलुहान कार-गुजारियों के बीच

खेतों की रखवाली का खतरा कौन उठायेगा बाबा!

ऐसे में - ''राम जी की चिड़िया रामजी के खेत
खाओ री चिड़िया भर भर पेट'' - का राग अलापते
क्या यूँ ही गली गली पनहियाँ रगड़ेंगे हम ?

हमारे भी तो कच्चे सपने हैं बाबा
हमें भी तो चलानी होगी हमारी दुनिया
क्या तुम भी सौंपकर जाओगे हमें
धरम के भरम का विषैला धुआँ!
बाबा! बाबा!! बोलो न!!!

ठहाका

दोस्त ने मजाक किया और ठहाका लगाया
ठहाका गाँव के पेड़ पर जा बैठा
और हरबोला बन गया

घर घर से मुट्ठियों में
अनाज लिए लोग निकले और उन्हें
पेड़ के नीचे बिछे गमछे पर खाली कर गये
हरबोला अनाज की भेंट से उत्साहित हुआ
और पेड़ की छुगनी तक जा पहुँचा

इसी वक्त ढोर डंगर निकले
और अनाज पर पिल पड़े
हरबोला हट हट करता
जब तक नीचे आया
गमछा तक चबा गई मवेशियाँ

और अब जानवरों से बचता हुआ
बस्ती के बाहर जा रहा हरबोला!!

कमल-विचार

मैंने कमल से कहा-
यार, तुम्हारे तो ढेर ढेर पर्यायवाची हैं
उसने कहा-
इससे भाषा समृद्ध होती है

फिर कहा-
यार, तुम्हारे तो ढेर ढेर उपमेय उपमान हैं
उसने कहा-
इससे कविता समृद्ध होती है

अब मैं चुप हो गया
तो उसने सवाल किया-
क्या कमल-विचार भी हैं तुम लोगों के पास ?

मैंने कहा-
ये क्या होते हैं
कहाँ से जागकर कहाँ सोते हैं ?

यह सुन देर तक खिलखिलाता रहा कमल
फिर बोला- क्या तुम लोग कभी
वस्तु को भी विचार तक ला पाओगे
या फिजूल के सवाल ही किये जाओगे ??

आगकाड़ी

हवा, आग, पानी
और धरती-आकाश ने
आदमी का हाल जानना चाहा
तो वह हैरान हो गया

फिर खीसे में आगकाड़ी रखे
अपने हाथों बनाये
बारूदी लाक्षागृह में जाकर
खुद सो गया।

अन्नपूर्णा की आवाज़

गँडासे से काटकर
ठीहे पर बिक रहा
पंचगव्य और गौमांस एक साथ

गोबर से निर्मित मंगल आकृतियाँ
गणेश पूजा के पूर्व हलाल हो रहीं

पानी पानी चिल्ला रहे
तेजाबी खाद से झुलसते प्यासे खेत

वधस्थलों को निर्यात हो रहीं गायें
और गोबर के स्वाद को तरसती फसलें
मिठास देना ही भूल गई

वर्णसंकर बीजों तले दबी अन्नपूर्णा
क्षत विक्षत दशा में अब भी
अक्षत अन्न की खोज में
आवाजें लगा रही है!!

बेमेल शब्द

शब्दों के साथ हुए
तो ये आगे-आगे चलकर बियावान जंगल हो गये

रोशनी बनाना चाहा
तो धुएँ की चादर बनकर छा गये सर्वत्र

तानना चाहा छातों-सा
तो बादलों की पर्त बनकर पूरा आकाश ही निगल गये

शीतल बयार बनाना चाहा
तो लू के झोंके हो गये

जब आवाज़ें लगाईं दोस्तों को
तो ये उनके कानों में चिपक गये

अर्थ और अभिव्यक्ति की जंजीरें लिए
आदमी को ठाट से गुलाम बनाने
सदैव ही-
तत्पर हैं बेमेल शब्द।

भरी पूरी सृष्टि

मुझसे अकेले मिलते वक्त भी
अकेले नहीं होते
एक पूरे परिवेश के साथ मिलते हो तुम

बातें करते तो लगता-
कि झर रहे हों पुष्प आश्वस्ति के
शब्द शब्द
अनुराग की अर्थलय में डूबे होते हैं तुम्हारे
और भाव ऐसे-
मानों फलों में पकते बीज हों

तुम इस तरह मिलते हो
जैसे कि लिहाफ फेंककर
दिन को प्रभात मिलता है
जैसे कि फसलों को
किरनों का गुनगुना स्पर्श मिलता है

तुम कुछ इसी तरह मिलते हो दोस्त
और जब भी मिलते हो
आँख भर देखते हो
कान भर सुनते हो
मन भर गुनते हो एक एक बात

सौगात यह कविता ने दी है हमें
कि हम अकेले मिलते वक्त भी
अकले नहीं होते
एक भरा पूरा पर्यावरण होता है हमारे साथ
जैसे कि ज़मीन आकाश अकेले होकर भी
अकेले नहीं होते
एक भरी पूरी सृष्टि होती है उनके साथ।

निश्चय ही वहाँ

छत के गमलों में गुलदाऊदी
अबकी इतनी फूली इतनी
कि पत्ते तक नजर नहीं आते
निश्चय ही तुमने जूड़े में
वेणी सजाई होगी वहाँ

दिनों बाद बादलों के छँटते ही
सुबह से दमक रहा सूरज
निश्चय ही तुमने भाल पर
रोली की टिकुली लगाई होगी वहाँ

कल ही मणिहारिन
तुम्हारे लिए चूड़ियां दे गई
निश्चय ही तुम्हें रात भर
मंगल स्वप्न आते रहे होंगे वहाँ

आज तो उठते ही
घर में लगी तुम्हारी तस्वीर से
ढेरों बातें करती रही हमारी नन्हीं कृति
निश्चय ही तुम्हें दिनभर
हिचकियाँ आती रही होंगी वहाँ!!

हर जगह अब भी

गाँव में
परिवार से जाना जाता
कस्बे में तहसील से

शहर में
परगने से
इलाकों में प्रदेश से

परदेश में
भारत से जाना जाता
द्वीपों में
एशिया महाद्वीप से

कहने को तो
विश्व मानव के
नाम से भी जाना जाता

लेकिन हर जगह अब भी
मेरी जाति ही पूछी जाती
तब मुझे
बहुत तेजी से
अपने गाँव की याद आती!!

मित्र!

मित्र!
देना ही चाहते हो तो प्यार दो
और इतना दो
कि दूसरी कोई गुँजाइश ही न रहे

मित्र!
लेना ही चाहते हो तो प्यार लो
और इतना लो
कि दूसरी कोई फरमाइश ही न रहे।

जीवन

जीवन के अन्दर से जीवन छाँटना चाहा
तो मुझे नगर का
श्मशान घाट याद हो आया

जहाँ इकलौती झोंपड़ी के बाहर
धूल में
डोम का बच्चा अकेला खेल रहा होगा

और वहीं कहीं बुझती चिता की अंगार से
बीड़ी सुलगाता डोम । बेटे के लिए-
एकाध नया खिलौना लाने को सोच रहा होगा।

प्यार करता हुआ आदमी

प्यार करता हुआ आदमी
हाथों में आशा का चाँद लिए
आस्था की चाँदनी पर चलता है

प्यार करता हुआ आदमी
साँसों में हौसले लिए
पराग-सा महकता है

प्यार करता हुआ आदमी
पहाड़-सा विश्वास लिए
जंगल के परिन्दों सा चहकता है

प्यार करता हुआ आदमी
पर्यावरण की हरीतिमा के लिए
घटाओं-सा बरसता है

प्यार करते हुए आदमी को देखना
सृष्टि का सतरंगीन दृश्य होता है
प्यार करते हुए आदमी से बोलना
शब्दों में अमृत घोलना होता है
प्यार करते हुए आदमी के साथ रहना
पृथ्वी पर [illegible] [illegible] होता है।

इन कविताओं में जातीयता का रंग इसलिये भी गहरा है कि कवि अपने जनपद के जीवंत चरित्रों की सृष्टि करता है। ये चरित्र भरे-पूरे हैं। इनकी भंगिमाएँ नाटकीय हैं। इनका परिवेश अंतर्विरोधों से भरा हुआ है। यह नये सौंदर्य-बोध की विनिर्मिति के लिये साहसपूर्ण कदम है। इन चरित्रों से वह सामाजिक यथार्थ लिपटा आता है, जिन्हें मध्यवर्गीय संवेदना विद्रूप या भयावह समझकर दरकिनार करती है। इस संग्रह की "चचा ताँगे वाले" कविता इस प्रसंग में उल्लेख्य है।

रघुवंशी की कविताएँ उन मानवीय भावों की रक्षा भी करती हैं, उन रिश्तों को सुरक्षित रखती हैं, जो आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में विलुप्त होते जा रहे हैं। यहाँ वह प्रकृति भी है, वे भूदृश्य और अपने आसपास की ऊबड़-खाबड़ छवियाँ भी हैं, जो बराबर हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं। उनके बिना हमारा परिवेश आधा-अधूरा है।

उत्तराधुनिकतावाद के इस विनाशकारी दौर में ये कविताएँ हमें जीने की चाह देती हैं। पर साथ ही उसे सुन्दर और अग्रगामी बनाने के लिये बेचैन दृष्टि भी। इन कविताओं का शिल्प सहज है, सादा है। यहाँ चमत्कृत करने वाली न तो वाग्मिता है, न बेमतलब के जार्गन। कविताएँ अपने अनलंकृत स्वभाव में भी सुगठित और सुन्दर लगती हैं।

मुझे उम्मीद है, ये कविताएँ उन सभी पाठकों को नया यकीन, नूतन भरोसा दे पायेंगी जो बिना पस्त हिम्मत हुए आज के क्रूर समय से जूझ रहे हैं। एक तरह से वे इनमें अपनी साँसों की नमी और हृदय की धडकनें महसूस करेंगे।

जयपुर, 10 मार्च, 2000 विजेन्द्र